

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182589

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H801**
D 98 Sa Accession No. **U.H. 1026**

Author **द्विवेदी, हजारी प्रसाद**

Title **साहित्य का साथी 1949..**

This book should be returned on or before the date
last marked* below.

साहित्यका साथी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी



प्रकाशक :

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

सब अधिकार
प्रकाशकके आधीन }

प्रथम संस्करण,
सितंबर, १९४९

{ मूल्य :
डेढ़ रुपये

मुद्रक : सुमन वात्स्यायन
राष्ट्रभाषा प्रेस, वर्धा

प्रकाशककी ओरसे

—०—

बहुत दिनोंसे हम अपनी 'रत्न' परीक्षाके विद्यार्थियोंके लिये एक ऐसी पुस्तककी कमी अनुभव कर रहे थे, जिसके द्वारा उन्हें साहित्यके विभिन्न अंगोंकी जानकारी मिल सके। इसके लिये हमने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीमें अनुरोध किया और उन्होंने हमारा अनुरोध स्वीकार कर 'साहित्यका साथी' लिख देनेकी कृपा की। पुस्तककी पांडु-लिपि दो-तीन वर्ष पूर्व ही हमें मिल चुका रहनेपर भी कुछ तो कागजके अभाव और कुछ अपने बढ़ते हुअे कामके सम्हालनेमें व्यस्त रहनेके कारण इसे शीघ्र प्रकाशित करना संभव न हो सका। आशा है इस विलम्बके लिये हम क्षमा किये जायेंगे।

हिन्दीमें समालोचना-साहित्यकी बड़ी कमी है, खासकर निष्पक्ष और स्पष्ट समालोचना तो बहुत ही कम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि कुछ अनेक-गिने श्रेष्ठ समालोचकोंकी कृतियाँ नज़र आती हैं, और यद्यपि उनसे हिन्दीके इस अंग-विशेषकी बहुत कुछ पूर्ति हुआ है, फिर भी अभी बहुत बाकी है। कहना न होगा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजीकी कुशल लेखनी अधर साहित्यके इस अंगकी पूर्तिमें विशेष रूपसे लगी है। समालोचना-साहित्यपर अब तक वे जो कुछ लिख चुके हैं, 'साहित्यका साथी' उन सबमें विशेष है।

.साहित्य क्या है ? साहित्यका स्वरूप क्या है ? साहित्यका अद्देश्य क्या है ? लेखकके व्यक्तित्व, शैली, रचना आदिपर उसकी समसामयिक और पूर्ववर्ती परिस्थितियोंका क्या प्रभाव पड़ता है ? श्रेष्ठ लेखक किस तरह अपनी जातिका—अपने युगका—प्रतिनिधि कहलाता है ? अच्छे साहित्यके लक्षण

क्या हैं ? शब्दकी शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना—काव्यमें क्या महत्व रखती हैं ? अलंकार और रसोंका काव्यमें क्या प्रयोजन है ? उनका अचित् उपयोग किस तरह किया जाना चाहिये ? कविता और उसका लक्ष्य क्या है ? काव्यके भेद क्या हैं ? उपन्यास और कहानीकी विशेषता क्या है ? उनके प्रमुख तत्व कौन-कौन-से हैं ? उपन्यास या कहानीका अद्देश्य क्या है ? नाटकके विभिन्न अंग—असका स्वरूप और उसकी अपयोगिता क्या है ? समालोचना कैसी हो ? उसकी विभिन्न पद्धतियाँ कौन-कौन-सी हैं ? निबंध किसे कहते हैं ? उनकी कौन-कौन-सी कोटियाँ हैं ? उनका अद्देश्य क्या है ? साहित्यका चरम लक्ष्य क्या है ? —आदि साहित्यके विभिन्न अंगोंपर 'साहित्यका साथी' पूर्ण प्रकाश डालता है ।

आचार्य द्विवेदीजीके हम अत्यंत कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इस पुस्तकको लिख देनेकी कृपा की और इस तरह राष्ट्रभाषा हिन्दीके प्रचारमें हमारा हाथ बँटाया ।

हमें आशा है कि न केवल साहित्यके विद्यार्थियोंके लिये किन्तु साहित्यमें अभिरुचि रखनेवाले सहृदय साहित्य-प्रेमियोंके लिये भी 'साहित्यका साथी' अेक सच्चा साथी सिद्ध होगा ।

इस अनुपम कृतिके लिये 'राष्ट्रभाषा'-संसार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीका सदा आभारी रहेगा ।

१-९-१४९ }
हिन्दी नगर,
वर्धा }

—मंत्री
रा. भा. प्र. समिति

अनुक्रमणिका

—:~:—

विषय

पृष्ठ-संख्या

१. साहित्य :—

‘साहित्य’ शब्दकी व्युत्पत्ति, अर्थ और प्रयोग ।
‘सूचनात्मक साहित्य’, ‘विवेचनात्मक साहित्य’ और ‘रचनात्मक साहित्य’ अथवा ‘साहित्य’ । साहित्यका स्वरूप:
‘जीवनकी अभिव्यक्तिका नाम ही साहित्य है’; साहित्य-सृष्टिकी प्रेरक शक्तियाँ । साहित्यका अुद्देश्य— ‘निखिल विश्वके साथ ऐक्य अनुभव करनेकी साधना’; “अन्तरात्माके ‘ऐक्य’ के साथ बहिर्लोकके ‘ऐक्य’ के मिलनका विधायक; विशुद्ध आनन्दका दाता” —सत् साहित्य ।

..... १-७

२. साहित्यकार :—

आलोचनाके अंग— लेखक, वक्तव्य वस्तु, शैली और श्रोता या पाठक । लेखक या ग्रंथकारके अध्ययन करनेका ढंग—
शुसके कालगत वैशिष्ट्य, जातिगत और समाजगत वैशिष्ट्य: समसामयिक और पूर्ववर्ती परिस्थितियाँ; व्यक्तिगत जीवन और व्यक्तित्वकी जानकारीकी आवश्यकता; अिन सबका शुसकी रचना, शैली आदिपर प्रभाव । लेखककी वंश-परंपरा, पारिवारिक परिस्थिति और तत्कालीन युगकी विचार-धारा और विशेषतासे शुसके व्यक्तित्वका निर्माण— ‘वस्तुत: ग्रंथकार परिस्थितियोंकी ही देन नहीं, अुसका व्यक्तित्व समाजमें नया प्राणदान करनेवाला और परिस्थितियोंको अभाष्ट दिशामें मोड़ने-वाला होता है ।’

..... ८-१९

३. जातीय (राष्ट्रीय) साहित्य :—

जातीय साहित्य क्या है ? उसकी आवश्यकता और
 उपयोगिता । परिचय-ग्रंथ और जातीय साहित्यकी तुलना ।
 जातीय साहित्यकी विशेषता । लेखक अथवा कवि अपने
 युगका—अपनी जातिका—प्रतिनिधि । २०-२४

४. साहित्यका व्याकरण :—

शब्दकी शक्तियाँ— 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यंजना' ।
 लक्षणाके भेदोपभेद । व्यंजनाके प्रकार । 'वाच्य', 'लक्ष्य'
 और 'व्यंग्य' अर्थ । अलंकार— (शब्दों और अर्थोंके
 नाना प्रकारके हृदयग्राही बौशल) । ध्वनि— 'वस्तु-ध्वनि',
 'अलंकार-ध्वनि' और 'रस-ध्वनि' । रस और उसके भेद ।
 स्थायी भाव । विभाव - अनुभाव और संचारी भाव ।
 रसानुभूति । 'रसाभास' और 'भावाभास' । सादृश्य-मूलक,
 विरोध-मूलक, शृंखला-मूलक, न्याय-मूलक और प्रतीति-मूलक
 अर्थालंकार । अप्रस्तुतका विधान— (१) अभिधा-मूलक
 (२) लक्षणा-मूलक और (३) व्यंजना-मूलक ।
 मुख्यालंकारोंका वर्गीकरण । २४-४०

५. कविता :—

कविताकी विभिन्न परिभाषाएँ; कविता क्या है ?
 काव्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, पुराणकी तुलनात्मक
 विवेचना । कविताका लक्ष्य—' किसी अखंड या समग्र
 वस्तुको ध्वनित करना'—'रस-ध्वनि ही काव्यका प्राण है; अलंकार
 आदि उसका बाह्य विधान मात्र ।' बिंब-ग्रहण, 'छन्दोधर्म',

भक्त्यानुप्रास या 'तुक' । काव्यके भेद—विषय-प्रधान, विषयि-प्रधान; गीति-काव्य और महाकाव्य । आधुनिक हिन्दी कविता—कल्पना, अनुभूति और चिन्तनकी प्रधानता; स्वच्छन्दतावाद—प्रगीत मुक्तक—असका स्वरूप—प्राचीन और नवीन । विषयि-प्रधान कविकी दृष्टियाँ—(१) वाच्यार्थ प्रधान, (२) लक्ष्यार्थ-प्रधान और (३) व्यंग्यार्थ-प्रधान । छायावाद—रहस्यवाद; दोनोंके अर्थ, स्वरूप और भेद । काव्यके क्षेत्र और उपकरणमें वृद्धि । ४०-६६

६. उपन्यास और कहानी :—

उपन्यास—'एक मनोरंजक साहित्यांग' । उपन्यासकी परिभाषा—'बहु-विचित्र मनुष्य-जीवनका चित्र ।' कहानी और उपन्यासकी तुलना । कहानी या उपन्यासके छः तत्व—(१) पात्र, (२) कथा-वस्तु, (३) कथोपकथन, (४) दश-काल, (५) शैली और (६) अद्देश्य । उपन्यासके भेद—चरित्र-प्रधान, घटना-प्रधान, और भाव-प्रधान । देश, काल तथा विषय-गत 'औचित्य', और अिनका समुचित निर्वाह । पात्रोंकी सजीवता और स्वाभाविकताकी अपेक्षा । उपन्यासकी शैलियाँ—आत्मकथा, डायरी, चिट्ठी, बातचीत और कहानांके रूपमें । अद्देश्यकी महत्ता और उसकी सिद्धिमें ही लेखककी सफलता । आदर्शवाद, यथार्थवाद और 'रोमांस' । 'रियलिस्टिक' और 'रियल' चित्र । उपन्यास और कहानी गद्य-युगकी उपज—शक्तिशाली प्रभावोत्पादक साहित्य । उपन्यास और काव्यमें अन्तर । उपन्यास व कहानीका महत्व । ६७-९१

७. नाटक :—

नाटक और उपन्यासकी तुलना । नाटकका स्वरूप—क्रियाकी प्रधानता, घटनाओंका अचित सन्निवेश और दृश्योंकी योग्य अवतारणा । नाटककी कथावस्तु — ‘दृश्यांश’ और ‘सूच्यांश’ । सूच्यांशकी उपयोगिता । पाँच प्रकारके कौशल— ‘प्रवेशक’, ‘विष्केभक’, ‘चूलिका’, ‘अकंमुख’, और ‘अंकावतार’ । ‘आधिकारिक’ और ‘प्रासंगिक’ घटनाओंका समावेश । ‘पताकास्थान’, ‘प्रकरी’ । चरित्र-चित्रण और घटना-विन्यासका अचित सामंजस्य ही नाटककी उत्तमताका लक्षण— ‘निर्वैयक्तिक तत्त्व’ । कथावस्तु और पात्रोंका घात-प्रतिघात—नाटककी महानता । नाटकीय ‘भाग्य-विडम्बन’ । ‘स्वगत’, ‘जनान्तिक’ और ‘आकाशभासित’ अकृतियाँ । रंगमंच और उसके अंग— ‘आंगिक’, ‘वाचिक’ ‘आहार्य’ और ‘सात्विक’ । अभिनय—असका अर्थ । नायक-प्रतिनायक । नाटकीय क्रियाके विभाग—आरंभ, विकास, चरमबिंदु, हास या अतार, समाप्ति । नाटकके पाँच अंक । प्राचीन पाँच अवस्थाएँ— ‘आरम्भ’ ‘प्रयत्न’, ‘प्राप्त्याशा’, ‘नियताप्ति’ और ‘फलागम’ । प्राचीन और अर्वाचीन अवस्थाओंकी तुलना । ‘प्रत्यक्ष’ तथा ‘परोक्ष’ क्रियाएँ—दोनोंका सामंजस्य-विधान । भरतमुनिकी नाटककी परिभाषा—घटना, पात्र और बातचीतके अनुकरण । दुःखांत या वियोगांत नाटक—‘ट्रेजेडी’ । जयशंकर ‘प्रसाद’ के नाटकोंकी विशेषता । देश-संकलन, काल-संकलन और वस्तु-संकलन । प्राचीन नाटकोंका स्वरूप—प्रस्तावना, सूत्रधार, नटी । ‘समस्या-नाटक’ । ‘रूपक-नाट्य’, ‘गाति-नाट्य’ और ‘भावनाट्य’ । अंकांकीका स्वरूप । नाटकका अद्देश्य— ‘परम मंगलमय अंक्यानुभूति’—असकी प्राप्ति ।

८. साहित्यिक समालोचना और निबंध :—

‘समालोचना’ शब्दका व्यवहार— ‘क्रिटीसिज़्म’, ‘रिव्यू’, ‘ओपीनियन’, ‘टीका’—‘व्याख्या’ आदि समानार्थी शब्द । समालोचकोंके मतोंमें अनैक्य । समालोचनाकी नवीन पद्धति—अभ्यूहमूला समालोचना (अिडिक्रिटिव क्रिटी-सिज़्म) । निर्णयके सामान्य मानदंड—‘अनुराग-विराग, अिच्छा-द्वेषसे रहित’ बुद्धि—की आवश्यकता । समालोचनाका क्षेत्र ।

‘निबंध’ की परिभाषा—‘प्रमाणोंके निबंधनका नाम ‘निबंध’ ।’ निबंधका प्रचलन प्रचार; उसका अुद्देश्य । नवीन ढंगके निबंध—तर्क-मूलक और व्यक्तिगत । निबंधोंकी कोटियाँ—(१) वार्तालाप-मूलक (२) व्याख्यान-मूलक, (३) अनियंत्रित गप्प-मूलक (४) स्वगत चिंतन-मूलक, और (५) कलह-मूलक । अनुभूति-मूलक-निबंध । साहित्यिक ग्रंथ या अन्य पदार्थोंके देखनेके ढंग—‘निर्वैयक्तिक’ या ‘अनासक्त’ और ‘वैयक्तिक’ या ‘आसक्त’ रूप । साहित्यकी अुपादेयता । साहित्यिक सिद्धान्तोंकी दृढ़ता । साहित्यका चरम लक्ष्य—“पशु-सामान्य मनोवृत्तिसे अुपर अुठकर प्रेम और मंगलमय मनुष्य-धर्ममें प्रतिष्ठित करना ।”

..... ११७-१२८

साहित्यका साथी

१. साहित्य

§ १. 'साहित्य' शब्दका प्रयोग आजकल बड़े व्यापक अर्थमें होने लगा है। किसी खास विषयकी समस्त पुस्तकें इस विषयका साहित्य कहलाती हैं। ज्योतिषका साहित्य कहनेसे ज्योतिष विषयकी सब पुस्तकें समझी जायेंगी, और प्रौढ़-शिक्षा विषयक साहित्यसे वे सभी पुस्तकें समझी जायेंगी जिनमें प्रौढ़-शिक्षाके सिद्धांतों, प्रयोगों आदिकी चर्चा हो। परन्तु इस शब्दकी व्यापकता केवल पुस्तकोंतक ही सीमित नहीं है। 'लोक-साहित्य' वह साहित्य है जो बहुत कम लिपिबद्ध हुआ है। इसमें जनताके मुखमें ही जीवित रहनेवाले गानों, कहानियों, मुहावरों और लोरियों आदिका समावेश है। परन्तु अितने व्यापक अर्थमें प्रयोग होते रहनेपर भी 'साहित्य' शब्दका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें भी होता है। अगर समूचे ग्रंथ-समूहको व्यापक अर्थमें साहित्य मान लें तो स्पष्ट ही इसमें तीन श्रेणीकी पुस्तकें मिलेंगी :—

(१) कुछ पुस्तकें केवल हमारी जानकारी बढ़ाती हैं, उनके पढ़नेसे हम बहुत-सी नयी बातोंके विषयमें सूचना पाते हैं; परन्तु उनसे हमारी बोधन-शक्ति या अनुभूति बहुत कम सुतेजित होती है। इसे 'सूचनात्मक-साहित्य' कह सकते हैं।

(२) कुछ दूसरी पुस्तकें ऐसी मिलेंगी जो हमारी जानकारी तो बढ़ाती ही हैं, हमारी बोधन-शक्तिको भी निरन्तर जागरूक और सचेष्ट बनाये रहती हैं। दर्शन, गणित और विज्ञानकी पुस्तकें ऐसी ही होती हैं। अन्हें 'विवेचनात्मक-साहित्य' के अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योंकि इस प्रकारके साहित्यके मूलमें हमारी विवेक-शक्ति है, जो निरन्तर भिन्न वस्तुओं, नियमों और धर्मोंकी विशिष्टता स्पष्ट करती रहती है।

(३) भिन दोनोंके अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी भी है। यह आवश्यक नहीं कि भिस श्रेणीकी पुस्तकोंसे नयी जानकारी ही प्राप्त हो, वे हमारी जानी हुयी बातोंको भी नये सिरसे कह सकती हैं और फिर भी हमें बारबार सुन्हीं जानी हुयी बातोंको पढ़नेके लिये श्रुत्सुक बना सकती हैं। ये पुस्तकें हमें सुख-दुःखकी व्यक्तिगत संकीर्णता और दुनियावी झगड़ोंसे ऊपर ले जाती हैं, और सम्पूर्ण मनुष्य-जातिके—और और भी भागे बढ़कर प्राणिमात्रके—दुःख-शोक, राग-विराग, आल्हाद-आमोदको समझनेकी सहानुभूतिमय दृष्टि देती हैं। वे पाठकके हृदयको भिस प्रकार कोमल और संवेदनशील बनाती हैं कि वह अपने कष्टों स्वार्थको भूलकर प्राणिमात्रके दुःख-सुखको अपना समझने लगता है—सारी दुनियाके साथ आत्मीयताका अनुभव करने लगता है। पुराने शास्त्रकारोंने भिस प्रकारके मनोभावको 'सत्त्वस्थ' होना कहा है [दे० §२९]। भिससे पाठकको एक प्रकारका ऐसा आनंद मिलता है जो स्वार्थगत दुःख-सुखसे ऊपरकी चीज है। शास्त्रकारने भिसीको 'लोकोत्तर आनंद' कहा है। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदिकी पुस्तकें भिसी श्रेणीकी हैं। एक शब्दमें भिस तीसरी श्रेणीके साहित्यको 'रचनात्मक-साहित्य' कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसी पुस्तकें हमारे ही अनुभवोंके ताने-बानेसे एक नये रस-लोककी रचना करती हैं। भिस प्रकारकी पुस्तकोंको ही संक्षेपमें 'साहित्य' कहते हैं। साहित्य शब्दका विशिष्ट अर्थ यही है। भिस पुस्तकमें भिस तीसरी श्रेणीकी पुस्तकोंके अध्ययन करनेका तरीका बताना ही हमारा संकल्प है।

§२. 'साहित्य' शब्दका व्यवहार नया नहीं है। बहुत पुराने जमानेसे लोग भिसका व्यवहार करते आ रहे हैं। समयकी गतिके साथ भिसका अर्थ थोड़ा-थोड़ा बदलता जरूर आया है, पर सब मिलाकर भिसका अर्थ प्रायः ऊपर बताये अर्थमें ही होता रहा है। यह शब्द संस्कृतके 'सहित' शब्दसे बना है जिसका अर्थ है 'साथ-साथ'। 'साहित्य' शब्दका अर्थ भिसीलिये 'साथ-साथ रहनेका भाव' हुआ।

दर्शनकी प्थियोंमें एक क्रियाके साथ योग रहनेको ही 'साहित्य' कहा गया है। अलंकार-शास्त्रमें भिसी अर्थसे मिलते-जुलते अर्थमें भिसका प्रयोग हुआ है। वहाँ शब्द और अर्थके साथ-साथ रहनेके भाव (साहित्य) को 'काव्य'

बताया गया है। परन्तु ऐसा तो कोई वाक्य हो नहीं सकता जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ न रहते हों। इसीलिये 'साहित्य' शब्दको विशिष्ट अर्थमें प्रयोग करनेके लिये अतिना और जोड़ दिया गया है कि "रमणीयता उत्पन्न करनेमें जब शब्द और अर्थ एक दूसरेसे स्पर्द्धा करते हुए साथ-साथ आगे बढ़ते रहें, तो अंधे 'परस्पर स्पर्द्धा' शब्द और अर्थका जो साथ-साथ रहना होगा वही साहित्य 'काव्य' कहा जा सकता है।" ऐसा जान पड़ता है कि शुरू-शुरूमें यह शब्द काव्यकी परिभाषा बनानेके लिये ही व्यवहृत हुआ था और बादमें चलकर सभी रचनात्मक पुस्तकोंके अर्थमें व्यवहृत होने लगा। पुराने ज़मानेसे ही अिसे सुकुमार वस्तु समझा जाता रहा है और अिसकी तुलनामें न्याय, व्याकरण आदि शास्त्रोंको 'कठिन' माना जाता रहा है। कान्यकुब्जके राजाके दरबारमें प्रसिद्ध कवि श्रीहर्षको विरोधी पंडितने यही कहकर नीचां दिखाना चाहा था कि वे 'सुकुमार वस्तु' के ज्ञाता हैं। 'सुकुमार वस्तु' से मतलब साहित्यसे था। अुत्तरमें श्री हर्षने गर्वपूर्वक कहा था कि मैं 'सुकुमार' और 'कठोर' दोनोंका जानकार हूँ।

५३. अूपर जिसे हमने 'रचनात्मक साहित्य' कहा है और आगे जिसे संक्षेपमें 'साहित्य' कहते रहेंगे, वह सारी दुनियामें बड़े चावसे पढ़ा जाता है। प्रश्न हो सकता है कि अिस श्रेणीके साहित्यको लोग क्यों अितने आग्रहके साथ पढ़ते हैं। यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि अिसके अुत्तरके लिये हमें साहित्यको भी ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना होगा और पढ़नेवालेके मनको भी।

साहित्य मानव-जीवनसे सीधा अुत्पन्न होकर सीधे मानव-जीवनको प्रभावित करता है। साहित्य पढ़नेसे हम जीवनके साथ ताजा और घनिष्ठ संबंध स्थापित करते हैं। साहित्यमें अुन सारी बातोंका जीवन्त विवरण होता है जिसे मनुष्यने देखा है, अनुभव किया है, सोचा है और समझा है। जीवनके जो पहलू हमें नज़दीकसे और स्थायीरूपसे प्रभावित करते हैं अुनके विषयमें मनुष्यके अनुभवोंके समझनेका एकमात्र साधन साहित्य है। वस्तुतः, जैसा कि एक पश्चिमी समालोचकने कहा है— 'भाषाके माध्यमसे जीवनकी अभिव्यक्तिका नाम ही साहित्य है।' इसीलिये पश्चिमी पंडितोंमेंसे किसी-किसीने साहित्यको जीवनकी व्याख्या कहा है। अिस कथनका अर्थ यह हुआ कि जीवनकी जहाँतक

गति है वहाँतक साहित्यका क्षेत्र है। जीवनसे दूर हटा हुआ साहित्य अपना महत्व खो देता है।

§४. लेकिन साहित्य और जीवनका संबंध आये दिन इस प्रकारसे बताया जाता है कि यह बात फैशनका रूप धारण कर चुकी है। असलमें यह बात-की-बात नहीं बल्कि वास्तविक तथ्य है। इसलिये इसके अन्तर्निहित अर्थको हमें ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये। 'साहित्य जीवनसे सीधे उत्पन्न होता है' इस वाक्यका अर्थ यह है कि साहित्य जीवनमें ही रहता है और उसके लिखे या पढ़े जानेका कारण भी जीवनमें ही खोजना चाहिये। इस कथनका और भी स्पष्ट अर्थ यह है कि साहित्यका विचार, उसकी अच्छा-बुराई का निर्णय, और उसकी महत्ता की जाँच के लिये हमें सब समय किसी शास्त्रके या किसी बड़े आदमीके वाक्यको अवलंब माननेकी जरूरत नहीं (यद्यपि यह बात अनावश्यक नहीं है)। यदि जीवन और साहित्यमें सचमुच सम्बन्ध है तो हमारे जीवनमें ही उसके समझने और ग्रहण करनेकी शक्ति होनी चाहिये। वस्तुतः ऐसा ही होता है।

हम साहित्यके किसी महान ग्रंथको इसलिये महान नहीं कहते कि किसी व्यक्तिने उसे महान कह दिया है, बल्कि इसलिये कि उसके पढ़नेसे हम मानव-जीवनको निविड-भावसे अनुभव करते हैं। या तो हम उसमें अपनेको ही पाते हैं या अपने अर्द्ध-गिर्दके अनुभूत अर्थोंको गाढ़-भावसे अनुभव करते हैं। पंडितोंने बताया है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये वह जिस प्रकार क्रिया-कलापमें सामाजिक बना रहता है उसी प्रकार विचारमें भी। उसके इस सामाजिकपनका ही परिणाम है कि वह :—

(१) अपने आपको नाना रूपोंमें अभिव्यक्त करना चाहता है, (२) अन्य-लोगोंके करने-धरनेमें रस लेता है; (३) अपने अर्द्ध-गिर्दकी वास्तविक दुनियाको समझना चाहता है; तथा (४) कल्पना द्वारा एक ऐसी दुनियाका निर्माण करनेमें रस पाता है जो वास्तविक दुनियाके दोषोंसे रहित हो। ये ही वे चार मूल मनो-भाव हैं जो मनुष्यको साहित्यकी तथा अन्य अनेक प्रकारकी रचनाओंके लिये उपयोगी बनाते रहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्यके जीवनमें ही वे अपादान मौजूद हैं जो उसे साहित्यकी सृष्टिके लिये प्रेरित करते हैं। साथ ही

भिन्हीं मूल मनोभावोंका यह परिणाम है कि वह दूसरोंकी रचनाको देखने, सुनने और समझनेमें रस पाता है ।

§५. हम किसी बातमें आनंद क्यों पाते हैं ? हमारे देशके मनीषियोंने बताया है कि हम ऊपरसे जितने भी खण्डरूप और ससीम क्यों न हों, भीतरसे निखिल जगत्के साथ 'अेक' हैं । हमने ऊपर जो कुछ समझा है उससे स्पष्ट है कि साहित्य हमें प्राणिमात्रके साथ अेक प्रकारकी आत्मीयताका अनुभव कराता है [द० §१] । वस्तुतः साहित्यके द्वारा हम अपनी खुसी 'अेकता' का अनुभव करते हैं । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस बातको बड़ी सरलताके साथ समझाया है । वे कहते हैं कि—

“हमारे आत्मामें अखण्ड अैक्यका आदर्श है । हम जो कुछ जानते हैं वह किसी न किसी अैक्य-सूत्रसे जानते हैं । कोअी भी जानकारी अपने-आपमें अेकान्त स्वतंत्र नहीं है । जहाँ कहीं भी पाने या जाननेमें अस्पष्टता दिखायी देती है, वहीं मेरी समझमें कारण हैं, 'मिलाकर न जान सकना' । हमारे आत्मामें, ज्ञानमें और भावमें यह जो 'अेक' का विहार है, वही 'अेक' जब लीलामय होता है, जब वह सृष्टिके द्वारा आनंद पाना चाहता है, तब वह खुस 'अेक' को बाहर सुस्पष्ट कर देना चाहता है । तब विषयको सुपलक्ष्य करके सुपादानको आश्रय करके अेक अखण्ड 'अेक' व्यक्त हो खुठता है । काव्यमें, गीतमें, शिल्पकलामें, ग्रीक शिल्पीद्वारा रचित पूजापात्रमें, विचित्र रेखाके आवर्तनमें जब हम परिपूर्ण 'अेक' को चरम रूपमें देखते हैं, तब हमारी अन्तरात्माके 'अेक' के साथ बाहिलोकके 'अेक' का मिलन होता है । जो मनुष्य अरसिक है वह इस चरम 'अेक' को नहीं देख पाता, वह केवल सुपादानकी ओरसे, केवल प्रयोजनकी ओरसे इसका मूल्य आँका करता है ।—

शरद चंद, पवन मंद

विपिने बहल कुसुम-गंध

फुल्ल मल्लि मालति यूथि,

मत्त मधुप भोरनी । —

“यदि इस काव्यमें विषय, भाव, कविता और छंदके निविड सम्मेलनसे 'अेक' का रूप पूर्ण होकर दिखायी दे, यदि खुस 'अेक' का अविर्भाव ही चरम

होकर हमारे चित्तपर अधिकार करे, यदि यह काव्य खण्ड-खण्ड होकर खुल्का-वृष्टि-सी करता हुआ हमारे मनपर आघात न करे और यदि अँक्य-रसकी चरमताको अतिक्रम करके और कोअी सुद्देश्य अग्र हो अउठे, तभी हम खुस काव्यमें सृष्टिलीलाको स्वीकार करेंगे । गुलाबक फूलसे हम आनंद पाते हैं । वर्णमें, गंधमें, रूपमें, रेखामें अिस फूलके भीतर हम (अखण्ड) 'अँक' की मुषमा देखते हैं । अिसके भीतर हमारा आत्मारूपी 'अँक' अपनी आत्मीयता स्वीकार करता है, तब फिर अिसके और किसी मूल्यकी जरूरत नहीं होती । गुलाबके फूलमें जो सुनिहित, सुविहित, मुषमायुक्त 'अँक्य' है, निखिल विश्वके अन्तरमें भी वही अँक्य है । समस्त (विश्वके) सुरके साथ अिस फूलके सुरका मेल है । निखिलने अिस मुषमाको अपना मानकर ग्रहण किया है ।”

९६. अिस लंबे अुद्धरणका अर्थ यह है कि छोटी-से-छोटी वस्तुमें खुसकी विभिन्नता और क्युद्धताके बावजूद भी अँक अँसी सत्य है जो सारी वस्तुओंमें समान रूपसे पाया जाता है । अुमीको खान्द्रनाथ 'अँक' कहते हैं । जहाँ अिस 'अँक' के साथ किसी वस्तुका सामंजस्य है वहाँ सौंदर्य है और कला है । जहाँ सामंजस्य न होकर विरोध है वहाँ स्वार्थ है, कुरूपता है और पीडा है । स्वयं खान्द्रनाथने ही रुपया कमानेका अुदाहरण देकर अिस बातको आसान करके समझाया है । वे लिखते हैं :—

“मैं जब रुपया कमाना चाहता हूँ तो मेरे रुपया कमानेकी नाना भौतिकी चेष्टाओं और चिन्ताओंके भीतर भी अँक 'अँकता' वर्तमान रहती है । विचित्र प्रयासके भीतर केवल अँक ही लक्ष्यकी अँकता अर्थकामीको आनंद देती है । किन्तु यह अँक्य अपने सुद्देश्यमें ही खोडत है, निखिलकी सृष्टि-लीलासे युक्त नहीं है । पैसका लोभी विश्वको टुकड़े-टुकड़े करके—झपट्टा मारकर—अपनी धनराशिको अिकट्टा करता है । लोभीके हाथमें कामनाकी वह लालटेन होती है जो कवल अँक विशेष संकीर्ण स्थानपर अपने समस्त प्रकाश को 'संघत' करती है । बाकी सभी रथानोंसे अुमका असामंजस्य गहरे अंधकारके रूपमें घनीभूत हो अुठता है । अतअेव लोभके अिस संकीर्ण अँक्यके साथ सृष्टिके अँक्यका, रस-साहित्य और ललित कलाक अँक्यका संपूर्ण प्रभेद है । निखलको छिन्न करनेसे लोभ हांता है और निखलको अँक करनेसे रस होता

है। लखपती महाजन रुपयेकी थैली लेकर 'भेद' की घोषणा करता है, गुलाब 'निखिल' का दूत है, वह 'अंक' की वार्ता लेकर फूटता है। जो 'अंक' असीम है, वही गुलाबके नन्हेसे हृदयको परिपूर्ण करके विराजता है। कीट्स अपनी कवितामें 'निखिल-अंक' के साथ अंक छोटसे ग्रीक पात्रकी अकताकी बात बता गये हैं: कद गये हैं कि 'हे नागव मूर्ति' ! तुम हमारा मनको व्याकुल करके समस्त चिन्ताको बाहर ले जाते हो, जैसा कि असीम ले जाया करता है।' क्योंकि अखण्ड 'अंककी' मूर्ति, किसी आकारमें ही क्यों न रहे, 'असीमका' ही प्रकाश करती है; अिसीलिये वह अनिर्वचनीय है मन और वाक्य उसका कोअी कूल-किनारा न पाकर लौट आया करते हैं" [विश्व भारती पत्रिका, चैत्र—१९९९, पृ० ११०-१११]।

§७ और औरसे यह बात हमें कठिन या दुर्बोध्य लगेगी। हम आगे सदा अिस विषयको नाना भावमे समझनेका अवसर पाते रहेंगे। परन्तु साहित्य के विद्यार्थीमात्रको शुरूमे ही यह बात समझ लेनी चाहिये कि साहित्यकी साधना निखिल विद्वत्के साथ अेकत्व अनुभव करनेकी साधना है। अिससे वह किसी भां अंशमें कम नहीं है। जो साहित्य-नामधारी वस्तु लोभ और घृणापर आधारित है वह साहित्य कहलानेके योग्य नहीं है। वह हमें विशुद्ध आनंद नहीं दे सकती।

आहार, निद्रा, भय आदि मनोभाव समस्त प्राणियोंमे समान हैं। मनुष्य जब अिनकी पूर्तिका प्रयत्न करता रहता है तो वह अपने खुस छोटे प्रयोजनमें अुलझा रहता है जो पशुओंके समान ही है। बहुत प्राचीन कालसे अिन पशु-सामान्य प्रवृत्तियोंको मनुष्यने तिरस्कारके साथ देखा है। वह अिन तुच्छताओंसे और अुठ सका है, यही उसकी विशेषता है। जो बातें हमें अिन तुच्छताओंका दास बना देती हैं; या अिन तुच्छताओंका ही मनुष्यका असली रूप बताती है, वे मनुष्यके चित्तसे उसके महत्वका, उसके वैशिष्ट्यको और उसके वास्तविक रूपका हटा देती हैं। वे लोभ और मोहका पाठ पढ़ाती हैं। साहित्य वे नहीं हो सकती, क्योंकि अुनकी शिक्कासे मनुष्य खंड की साधना करता है, विभेद और तुच्छताको बड़ा समझने लगता है और सारे विश्वके साथ अेकत्वकी अनुभूतिसे विरत हो जाता है।

२. साहित्यकार

§८. हम साहित्यकी कोभी भी पुस्तक उठा लें—तीन बातें हमारे सामने अपने-आप उपस्थित हो जायेंगी। प्रथम तो यह कि उस पुस्तकका कोभी लेखक है जिसने संसारके कुछ व्यापारोंको अपने ढंगसे देखा, समझा और अनुभव किया है। दूसरी यह कि उसने जो कुछ भी देखा, समझा और अनुभव किया है अन्हीं बातोंको इस पुस्तकमें कहा है। अर्थात् जिस प्रकार पुस्तकका कोभी वक्ता है उसी प्रकार उसका वक्तव्य भी है। तीसरी यह कि वक्ताने वक्तव्यको कहनेके लिये किसी विशेष ढंगको पसंद किया है और उसी ढंगमें वह हमें सुना रहा है। अुदाहरणार्थ, वह अपनी बात कहानीके रूपमें कहना चाहता है, या पद्य-बद्ध करके कहना चाहता है, या दो या अधिक पात्रोंमें बातचीत करके कहना चाहता है या फिर सीधे युक्ति-तर्क देकर प्रतिपादन कर रहा है। ये तीन बातें हर पुस्तकमें रहती हैं। अगर हम इन तीनोंको ठीक ढंगसे समझ लें तो आलोच्य पुस्तककी जाँच आसानीसे हो सकती है। अंक चौथा बात भी है जो या तो लेखकके मनमें रहती है या वक्तव्य वस्तु स्वयं उसकी आवश्यकता समझकर अपना ओरसे तैयार कर लेती है। वह है लक्ष्यभूत श्रोता या पाठक। इस प्रकार किसी पुस्तककी विवेचना करते समय चार बातोंका विचार परम आवश्यक है—(१) कौन कह रहा है (लेखक), (२) क्या कह रहा है (वक्तव्य वस्तु), (३) कैसे कह रहा है (कारीगरी), और (४) किससे कह रहा है (लक्ष्यभूत श्रोता या पाठक)।

§९. पहले लेखकका ही विचार किया जाय। साहित्य-ग्रंथके पढ़नेका प्रथम अर्थ होता है ग्रंथकारके साथ घनिष्ठ योग। शुरूमें ही कहा गया है कि साहित्य जीवनसे सीधे उत्पन्न होता है। तो जिस व्यक्तिके जीवनसे आलोच्य ग्रंथ निकला है उसके विषयमें जानकारी प्राप्त कर लेनेसे हमें अनेक सुविधाएँ मिल जाती हैं। यदि हम ऐसा शुरूमें ही कर लेंगे तो ग्रंथके अनेक अस्पष्ट अंशोंको समझ सकेंगे और ग्रंथका रस गाढ़-भावसे अनुभव कर सकेंगे

एक हाँ लेखक कभी पुस्तकें लिख सकता है, अंगु भी देखा गया है कि अिन पुस्तकोंमें परस्पर विरोधी बातें भी रहती हैं, और कभी-कभी तो एक ही ग्रंथमें परस्पर विरोधी बातें मिल जाती हैं। वस्तुतः महान लेखककी महान रचना उसके जीवनके विभिन्न अनुभवोंका जीवन्त रूप है। एक पश्चिमी आलोचकने कहा है कि ग्रंथकारके लिखे सभी ग्रंथोंको एक ही ग्रंथ मानकर आलोचना होनी चाहिये। तभी हम ग्रंथकारके वास्तविक रूपको समझ सकते हैं। आजकल यह प्रथा चल पड़ी है कि किसी ग्रंथकारकी रचनाओंके अध्ययनके लिये रचनाओंका काल-क्रमसे वर्गीकरण किया जाता है और ग्रंथकारके व्यक्तिगत जीवनके साथ उन रचनाओंका संबंध स्थापित किया जाता है। ऐसा करनेसे ग्रंथकारको समझनेमें आसानी होती है। पर इस ढंगमें कुछ दोष भी हैं। आगे हम इसपर विचार करेंगे।

§ १०. ग्रंथकारके अध्ययनके लिये चार बातोंकी जानकारी आवश्यक है:—
(१) वह किस कालमें पैदा हुआ; (२) वह किस जाति और समाजमें पैदा हुआ; (३) उसके समसामयिक और पूर्ववर्ती अन्य प्रसिद्ध ग्रंथकार कौन-कौन थे; और उनमें उसका कोसी संबंध था या नहीं; तथा (४) उसका व्यक्तिगत जीवन क्या और कैसा था ?

(१) प्रथम बातकी जानकारी इसलिये आवश्यक है कि प्रत्येक कालका एक अपना विशेष गुण है। जिस युगमें कवि पैदा होता है उस युगकी राजनीतिक, सांस्कृतिक और अन्य परिस्थितियाँ उस युगके प्रत्येक लेखकमें एक सामान्य गुण भर देती हैं। हिंदीमें सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दीमें जो लेखक हुए उन सबमें रीति-ग्रंथोंके एक खास पहलूका प्रभाव है। उस युगमें मुसलिम-शासन पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित हो चुका था और कितने ही मुसलिम शिष्टाचार समाजमें घुल-मिलकर भारतीय हो चुके थे। कवि तत्कालिक समाजकी रीति-नीतिसे प्रभावित रहता था।

कविके काव्यके विषयमें जिज्ञासाका अर्थ यह होता है कि हम उस ऐतिहासिक शक्तिकी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं जो मनुष्य-समाजको

प्रत्येक युगमें विशेष विशेष रूप दे रही है। कालिदास जिस युगमें पैदा हुआ था उस युगकी मूर्ति, स्थापत्य, धर्म और राजनीति आदिको जाने बिना हम न तो कालिदासको ठीक-ठाक समझ ही सकते हैं और न उसका महत्व निर्णय कर सकते हैं। कालिदासके ग्रंथमें कालिदासका युग प्रतिफलित है। उस युगके सभी लेखकोंमें उस युगकी छाप पायी जायगी। कालिदास जिस युगमें पैदा हुआ था उस युगमें भारतवर्ष ब्राह्मणधर्मानुमोदित पुनर्जन्म, कर्मवाद और कर्मफल प्राप्तिकी व्यवस्थाको मानता था। अधीनस्थ सब कुञ्जको एक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्थाके भीतरसे देखना उनके लिये स्वाभाविक और सहज था। जो-कुछ घट रहा है उसका एक अचिंत कारण है—असि विद्वासने उस युगके साहित्यकारोंमें एक सन्तोषका भाव भर दिया था। और कालिदासके समानही उस युगका प्रत्येक कवि और नाटककार संसारको एक सामंजस्यपूर्ण विधान मानता था। उस युगके किसी कविमें बीसवीं शताब्दीके आधुनिक साहित्यिकोंकी भाँति समाजकी व्यवस्थाके प्रति तीव्र असन्तोषका भाव नहीं पाया जा सकता।

(२) दूसरी बात अर्थात् लेखकके समाज और जातिकी जानकारी भी आवश्यक है। क्योंकि :—

(क) प्रत्येक जातिका अपना एक जातीय गुण होता है जो उस जातिके व्यक्तियोंमें प्रायः सामान्य रूपसे पाया जाता है। प्राचीन कालमें ही भारतवर्षमें नाना संस्कृतियोंके संघर्ष और समन्वयसे एक विशेष प्रकारकी विचार-पद्धति, विश्वास और रीति-नीति बन गयी है। सुनिषद्-कालके बाद जब लौकिक संस्कृतका साहित्य भारतवर्षमें बनने लगा उस समयसे लेकर हजारों वर्ष बादतक इस देशमें वेदकी प्रामाणिकतामें विश्वास, अध्यात्मवाद, पुनर्जन्मवाद आदिका बोलबाला रहा। मैक्समूलरने इस युगके भारतवासियोंके बारेमें लिखा है कि :— “सुससे इस सान्त जगत्की बात कहो, वह कहेगा कि अनन्तके बिना सान्त जगत् निरर्थक है, असंभव है; सुससे मृत्युकी बात कहो, वह तुरन्त उसे जन्मकी पूर्वावस्था कह देगा; सुससे कालकी बात कहो वह उसे सनातन परम तत्वकी छाया बता देगा। हमारे (यूरोपियनोंके) निकट अिन्द्रियों साधन हैं, शत्रु हैं, ज्ञानप्राप्तिके शक्तिशाली अिज्जन हैं; किन्तु सुसके

निकट वे अगर सचमुच धोखा देनेवाले नहीं तो कमसे कम सदैव ज़बर्दस्त बन्धन तो अवश्य हैं, वे आत्माकी स्वरूपोपलब्धिमें बाधक हैं। हमारे लिये यह पृथ्वी, यह आकाश, यह जो कुछ हम देख, छू और सुन सकते हैं निश्चित है; हम समझते हैं, यहाँ हमारा घर है, यहाँ हमें कर्तव्य करना है, यहीं हमें सुख-सुविधा प्राप्त है, लेकिन उसके लिये यह पृथ्वी एक ऐसी चीज़ है जो किसी समय थी ही नहीं और ऐसा भी एक समय आयगा जब यह नहीं रहेगी; यह जीवन एक छोटा-सा सपना है जिससे शांति ही हमारा छुटकारा हो जायगा, हम जाग जायेंगे। जो वस्तु औरोंके बिना नितान्त सत्य है उससे अधिक अमत्य उसके निकट और कुछ है ही नहीं और जहाँ तक उसके घरका संबंध है वह निश्चित जानता है कि वह और चाहे जहाँ कहीं भी हो, इस दुनियामें नहीं है।” भारतवर्षका यह परिचय आदिकवि वाल्मीकिसे लेकर रवीन्द्रनाथ तक ज्यों-कान्त्यों चला आया है। इस देशका घोर-से-घोर विषयी कवि भी इस दुनियासे परे एक अचिन्त्य अव्यक्त सत्ताकी ओर अशारा किये बिना नहीं रहता। परन्तु :—

(ख) सारी भारतीय जाति एक ही तरहपर सदा नहीं रही है, यद्यपि समूची भारतीय जातिके भीतर अनेक प्रकारके सामान्य विद्वास किसी मात्रामें सदा पाये जाते रहे हैं। आर्थिक और राजनीतिक कारणोंसे कोअी उपजाति सुविधा भोग करती है, कोअी दूसरी उपजाति औरोंकी सेवा करती है और कोअी तीसरी श्रेणी अंगेक्षित और अपमानित हो रहती है। भारतवर्षमें धार्मिक कारणोंसे भी ऐसा हुआ है। अनेक नाना स्तरोंमें शिक्षा, संस्कार और संवेदन एक ही तरहके नहीं होते। मध्य युगमें आचार्य रामानंदकी दीक्षा भिन्न-भिन्न स्तरके कवियोंमें अनेकदम अलग-अलग रूपमें व्यक्त हुई है। हालके शोधोंसे पता चलता है कि कबीरदास एक ऐसी जातिमें पैदा हुअे थे जो नाथ-योगियोंसे भ्रष्ट होकर गृहस्थ बनी थी और ब्राह्मण-व्यवस्थाकी क़ायल नहीं थी। उस जातिमें योगियोंके संस्कार पूरी मात्रामें वियमान थे। फिर बादमें वह धीरे-धीरे मुसलमान भी होने लगी थी, इसलिये मुसलमानी संस्कार भी उसमें आने लगे थे। फिर भी सब मिलाकर उस जातिकी सामाजिक मर्यादा निचले स्तरकी थी। इसी समाजके संस्कारोंके कारण आचार्य रामानंद द्वारा

प्रचारित भक्ति कबीरमें अंक ऐसे पौधेके रूपमें अंकुरित हुआ जो अपनी भिसाल आप ही है। कबीर अंक ही साथ योगियोंका अकखड़पन, निचले स्तरमें वर्तमान छोटी समझी जानेवाली जातियोंका तीव्र असन्तोष-भाव, मुसलमानी अतसाह और भक्तगणकी निरीहताके सम्मिलित रूप थे।

शुभर दूसरी ओर तुलसीदास हुआ जो रामानंदके साक्षात् शिष्य तो नहीं थे पर उनकी शिष्य-परम्परामें ही पड़ते थे। वे ब्राह्मण-वंशमें किन्तु गरीब घरमें पैदा हुआ थे। इस श्रेणीमें योग-मार्गका नहीं बल्कि पौराणिक मतका प्रचार था। तुलसीदास कबीरसे बहुत भिन्न हैं। अितना अवश्य याद रखना चाहिये कि अिन दो महान साहित्यकारोंकी भिन्नताका कारण उनका अपना व्यक्तित्व भी था (जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे)। परन्तु अिस बातमें कोई सन्देह नहीं कि दोनोंको उत्पन्न करनेवाली भिन्न-भिन्न सामाजिक भिन्नता भी अिनकी भिन्नताके लिये पूर्णरूपसे जिम्मेवार है। अिस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस तरह यह जानना परम आवश्यक है कि ग्रंथकार किस देश या जातिमें पैदा हुआ, उसी प्रकार यह जानना भी जरूरी है कि वह समाजके किस स्तरसे आया था, अिन दोनों बातोंको अंक शब्दमें कविका 'जातीब रूप' कह सकते हैं।

(३) कविके पूर्ववर्ती और समसामयिक ग्रंथकारोंका जानना भी आवश्यक है। उनकी परस्पर तुलना करके हम आलोच्य कवि या लेखके काल, समाज और देशकी बात ठीक-ठीक समझ सकते हैं कि कविका अपना व्यक्तित्व क्या था। बिहारी और मतिरामकी सतसअियोंमें बहुत-सी बातें अंक ही जैसी हैं। नायिकाओंका वही रूप, वही अलंकरण-भंगिमा, वही प्रेम और विरह-संबंधी अुक्तियाँ, अलंकारोंका वही कौशल, गुणोंकी वैसी ही योजना और दोषोंका वैसा ही वर्जनका प्रयत्न दोनों ही कवियोंमें मिलगा। दोनोंकी तुलना करनेसे हम आसानीसे अस युगकी रुचि, संस्करण, रीति-रस्म, शिष्टाचार और सामाजिकता आदिका पता लगा सकते हैं। और फिर भी यह समझनेमें देर नहीं लगंगी कि बिहारी हाव-भाव और विब्वोक विलासोंमें अधिक रस पाते हैं और अंगज अलंकारों-पर विशेष जोर देने हैं, जब कि मतिराम अयत्नज अलंकारोंमें अधिक रस लेते हैं। [दे० ५३०]

कविको पूर्ववर्ती और समसामयिक कवियोंकी तुलनामें रखकर देखनेका अर्थ है कि हम मानते हैं कि संसारमें कोसी घटना अपने-आपमें स्वतंत्र नहीं हैं, पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती घटनाओं वर्तमान घटनाओंको रूप देती रहती हैं, इसलिये जिस किसी रचना या वक्तव्य वस्तुका हमें स्वरूप-निर्णय करना हो, उसे पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती घटनाओंकी अपेक्षामें देखना चाहिये। भाम कविका चारुदत्त नाटक, शूद्रक कविके मृच्छकटिकसे पुराना है। चारुदत्त ही मृच्छकटिकका आधार है। दोनोंमें केवल कथानकका ही साम्य नहीं है कभी श्लोकनक अंक ही पाये गये हैं। फिर भी शूद्रकका मृच्छकटिक भासके चारुदत्तसे विशय है। यदि यह सिद्ध हो जाता कि चारुदत्त मृच्छकटिकके बादकी रचना है तो उसका कोसी महत्व नहीं रहता है, पर चूँकि वह पूर्ववर्ती रचना है इसलिये उसका महत्व बहुत अधिक है। दोनों नाटकोंके साथ पढ़नेवाला व्यक्ति शूद्रकके व्यक्तित्व और महत्वको ठीक-ठीक समझ सकता है।

(४) कविका व्यक्तिगत जीवन भी साहित्यके विद्यार्थीके लिये बहुत आवश्यक है। भारतवर्षमें इस ओर काफ़ी अुदासीनता दिखायी गयी है। अपने महान ग्रंथकारोंसे बहुत कमके व्यक्तिगत जीवनकी हमें ठीक-ठाक जानकारी है। अनुमक पाठक-मंडलीको किम्बदन्तियोंपर सन्तोष करना पड़ता है। अधर यूरोपमें कविके जीवनकी प्रत्येक छोटो-छोटो घटनाको लिपिबद्ध करने और आलोचना करनेकी परिपाटी पागलपनकी सीमातक पहुँच चुकी है। इस देशमें भी यह हवा बहने लगी है। ग्रंथकारोंके खामने-डकारने तककी खबर लेनेके लिये पन्ने-के-पन्ने रंगे जाने लगे हैं। जिस भी सस्त तौरपर साहित्यमें नाम कमनेकी अच्छा है वही किसी बड़े कविकी पैदाइशका कोसी नया गौंव खोज निकालता है, उसके ससुरालकी ढही दीवारोंका पता बता देता है, उसकी भौजाओंकी बहूके भतीजेका हस्तलेख निकाल लाता है और पत्रों और पुस्तकोंमें बहस छिड़ जाती है। ऐसी बात साहित्यके समझनेमें बाधक ही होगी।

यहाँ यह कह रखना जरूरी है कि बड़े-बड़े ग्रंथकारोंके जीवनमें दो प्रकारकी दिलचस्पी पायी जाती है, ऐतिहासिक और साहित्यिक। हमारा प्रधान आलोच्य साहित्यिक दिलचस्पी है। हमें कविके साहित्यके पढ़नेके लिये उसकी जीवनकी जानकारी प्राप्त करनी होती है। यदि हम बेकार बातोंमें समय बर्बाद करने लगेंगे

तो यह बात हमारे साहित्यिक अध्ययनमें बाधक ही साबित होगी। परन्तु यदि हम कविके जीवनसे परिचित हों, उसके अनुभवोंके चढ़ाव-उतारके जानकार हों तो बहुत-सी साहित्यिक अलक्ष्ण सुलझ जाती हैं। वस्तुतः कौआ भी महान ग्रंथ अपने लेखकके दिमागसे, हृदयसे और रक्त-मांससे बना होता है।

महान ग्रंथकार अपने अनुभवसे सर्जाव सृष्टि करता है। वह कल्पना और बुद्धिके सहारे गढ़े हुए जीवोंमें आस्था नहीं रखता। स्वर्गाय प्रेमचंदजीने कहा था कि “कल्पनासे गढ़े हुए आदमियोंमें हमारा विद्वास नहीं है। उनके कार्यों और विचारोंसे हम प्रभावित नहीं होते। हमें इसका निदचय हो जाना चाहिये कि लेखकने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवोंके आधारपर की है, या अपने पात्रोंकी ज़बानसे वह खुद बोल रहा है।”

किसी रचनाका संपूर्ण आनंद पानेके लिये रचयिताके साथ हमारा घनिष्ठ परिचय और सहानुभूति मनुष्यताके नाते भी आवश्यक है। हमें आलोचक होनेके पहले आलोच्य ग्रंथकारका विद्वासपरायण मित्र बनना चाहिये। तभी हम उसके वक्तव्यके अचित श्रोता हो सकेंगे: क्योंकि उस हालतमें ही उसके व्यक्तिगत सुख-दुःखके साथ गंभीर सहानुभूतिका भाव रख सकते हैं। सूरदास, तुलसीदास, रसखान और घनआनंद आदि कवियोंके बारेमें जो किम्बदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं उनसे सिद्ध होता है कि जीवनकी छोटी-छोटी घटनाओं भी कभी-कभी महान पुरुषोंको इस प्रकारका झटका देती हैं कि उससे उनके जीवनकी दिशा ही बदल जाती है। कविका जीवन उसकी कृतियोंके समझनेका प्रधान सहायक है।

§ ११. ग्रंथकारकी शैली उसके व्यक्तित्वका ही अंग है। आधुनिक साहित्यके पारखी पंडितोंने साहित्यका विश्लेषण करके देखा है कि एक लेखककी रचना दूसरे लेखककी रचनासे तीन कारणोंसे भिन्न हो जाया करती है:—

(१) पहला कारण तो यह है कि एक व्यक्तिका स्वभाव, संस्कार और शिक्षण दूसरेसे कभी हृ-ब-हृ नहीं मिलता। फलतः एक व्यक्ति सदा दूसरेसे भिन्न हुआ करता है। और इसीलिये एक व्यक्तिकी रचना स्वभावतः ही दूसरेसे भिन्न हो जाया करती है। उसकी शैली, जैसा कि अंग्रेज कवि पोपने कहा था, “असके विचारोंकी पोशाक” हुआ करता है, पर केवल “पोशाक” कहना

अपने ठीक-ठीक कहना नहीं हुआ। अतिलिखे सुप्रसिद्ध मनीषी कारलायलने अमुक्त वक्तव्यका संशोधन करते हुए कहा था कि “शैली लेखकके विचारोंकी पोशाक नहीं है बल्कि चमड़ा है”। वह मँगनी नहीं मँगी जा सकती, आधार भी नहीं दी जा सकती। साधारण सहृदय भी किसी व्यक्तिकी रचनाको देखकर कह सकता है कि ऐसी रचना तो अमुक व्यक्तिकी ही हो सकती है। प्रसाद और महावीरप्रसाद द्विवेदीके गद्य दूरमे ही अपने लेखकका नाम कह देंगे। इस बातको शैलीका व्यक्तिगत पहलू कह सकते हैं। पर व्यक्तिगत पहलू ही शैलीका सब-कुछ नहीं है। उसका एक दूसरा महत्वपूर्ण अंग भी है।

(२) एक खास युगके लेखक एक ढंगका चीज लिखते हैं। बिहारीका जन्म यदि आज हुआ होता तो वे सतसभीकी शैलीमें अपना वक्तव्य नहीं उपस्थित करते। उन्हें प्रेम और सौंदर्यकी प्रेरणा भी अन्य प्रकारसे प्राप्त होती। लेखककी शैलीपर समयका प्रभाव अमिट रूपसे पड़ता है। परन्तु इस दूसरे पहलूके कारण शैलीका पूर्वकथित व्यक्तिगत पहलू मद्धिम नहीं पड़ता। अगर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी बीसवीं सदीमें पैदा हुए होते तो कविता तो शायद लिखते ही नहीं और लेख भी दूसरे किस्मके लिखते। यह बात निश्चित है, परन्तु जितना निश्चित यह है उतना ही निश्चित यह भी है कि अनिष्टका व्यक्तिगत गुण अर्थात् विचारोंकी पुरुष स्पष्टता, भाषाकी सफाई और वक्तव्यके प्रति कठोर अमानदारी उस समय भी होती।

(३) शैलीका तीसरा महत्वपूर्ण अंग उसका शास्त्रीय उपस्थापन है। इसमें वक्तव्य वस्तुके भावावेशमूलक और सामंजस्य-बोधक उपकरण शामिल हैं। अर्थात्:—

[क] उपयुक्त शब्दोंका उपयुक्त व्यवहार, विचारोंके अनुकूल वाक्योंको रूप ग्रहण करानेकी कथमता या लचीलापन, और औचित्य-ज्ञान;

[ख] वक्तव्य वस्तुको हृदयंगम करानेके लिये ज्ञानको बढ़ा-चढ़ाकर कहना ही नहीं बल्कि पाठकको अतृप्त करनेकी अनन्य-साधारण कथमता; और

[ग] विविध शास्त्रीय तत्वोंका अचित सामंजस्य।

शास्त्रकार लोग अनिष्ट बातोंको काव्यगुणोंके अन्तर्गत मानते हैं। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि ‘अुत्तम और सफ़ शैली’ लेखकका एक प्रधा

गुण होनेपर भी केवल उसीके बलपर कोअी लेखक महान् नहीं हो जाता । किसीने किसी विषयको कैसे लिखा है, यह जाननेके पहले यह जानना आवश्यक है कि उसने 'क्या लिखा' है । यदि वक्तव्य वस्तुमें सार है तो वह जिस किसी ढंगसे भी क्यों न लिखा गया हो, ग्रहणीय हो जाता है । समय-समय-पर कोअी-कोअी लेखक अपनी शैलीके बलपर भी साहित्यमें श्रेष्ठ स्थान अधिकार करते देखे गये हैं । पर यह नियम नहीं, अपवाद है । महावीर प्रसाद द्विवेदी अैसे ही अपवाद थे । वे अेक अैसे संक्रांतिकालमें उत्पन्न हुअे जिसमें भाषाकी निर्भम सफाअी प्रधान गुण हो गअी थी । उनसे कम पुरुष, कम बुद्धिवृत्तिक और अधिक भावावेशी व्यक्तिका नेतृत्व मिला होता तो संक्रांतिकालीन भाषामें अेक अैसा ढालापन आ गया होता जिसके सुधारनेके लिये हम अब भी किसी अवतारी पुरुषकी बाट जोहते होते । अिस प्रकार शैली भी कभी-कभी साहित्यमें प्रधान स्थान ग्रहण कर लेती है ।

§१२ ग्रंथकारके व्यक्तित्वका थोड़ा और भी विचार कर लिया जाय । आधुनिक विचारकोंने ग्रन्थकारका अध्ययन प्राणि-जगतकी विशाल पटभूमिका-पर रखकर किया है । ग्रन्थकार मनुष्य है, मनुष्य जीव । संसारमें जितने भी जीव हैं वे सभी अेक विकासके प्रवाहमें होकर आये हैं । प्रत्येक नअी पीढ़ी पुरानी पीढ़ीके गुण-दोषोंको लेकर पैदा होता है और पारिपार्श्विक परिस्थितियोंके कारण नअी शारीरिक या मानसिक परिस्थितियोंका प्राप्त करती है । मनुष्य अिसका अपवाद नहीं हो सकता । उसके शरीर और मन भी न तो पूर्ववर्ती पीढ़ियोंके गुण-दोषसे मुक्त हो सकते हैं और न पारिपार्श्विक परिस्थितियोंके प्रभावसे बच ही सकते हैं । अिसका अर्थ यह है कि कालिदास अेक खास जाति और खास कालमें ही हो सकते थे । अेस्कमें जातिके बच्चेको चाहे जितनी भी संस्कृत रटा दीजिये वह कालिदास नहीं बन सकता और न अिस युगका बच्चा बड़ी शक्तिवाला संस्कृतज्ञ ही कालिदास-सा हो सकता है । कालिदास उसी समयमें, उसी परिस्थितिमें और उसी जातिमें हो सकते थे जिसमें हुअे थे ।

न दो व्यक्तियोंके सोचनेका रास्ता अेक है न सोचनेकी वस्तु ही अेक है । प्रसिद्ध फ्रांसीसी समालोचक टेनने कहा था कि किसी भी व्यक्तिका निर्माण तीन निर्वैयक्तिक अपादानोंसे होता है :—

- (१) खुसकी वंश-परंपरा ;
- (२) खुसकी पारिपार्श्विक परिस्थिति ; और
- (३) खुसके युगकी विचार-धारा और विश्वास ।

असका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति जैसा है वैसा ही खुसे होना था, वह अपनी अच्छाईसे अपनेको और अपने अर्द्ध-गिर्दकी परिस्थितिको बदल नहीं सकता । अस विचारमें आंशिक सत्य अवश्य है पर असे संपूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता ।

§ १३. वस्तुतः परिस्थितियोंपर विजय पानेवाले मनुष्योंने ही प्रत्येक युगमें संसारको आगे बढ़ाया है । जातियोंका अतिहास व्यक्तियोंका अतिहास है । महापुरुष अकेले अपूर्व शक्ति लेकर आते हैं और देशका नक्शा बदल देने हैं । कामवेल न होता तो अंग्लैण्डका अतिहास और तरहसे लिखा गया होता । नेपोलियन न हुआ होता तो फ्रांसकी कहानी और ही तरहकी होती । अंसा देखा गया है कि अकेले-अकेले शक्तिशाली महापुरुष जातिको अकेले खास दिशामें अप्रसर करत समय रास्तेमें ही चल बसा और वह जाति अपने समस्त जातिगत तथा ऐतिहासिक परम्पराओं और अनुकूल पारिपार्श्विक परिस्थितियोंके बावजूद भी खुभय-विभ्रष्ट छिन्न मेघ-खंडकी भांति विलीन हो गयी !

महापुरुष ही जातियोंको बनाते हैं । वे देशको विशेष दिशाकी ओर मोड़ देते हैं, साहित्यके स्पष्ट और विज्ञानके विधाता होते हैं । कबीरदास योगियोंकी अकखड़ता, भक्तोंकी निरीहता और भारतीय साधकोंकी सामान्य विशेषता आध्यात्मिक दृष्टिके साथ ही अपना अकेले मस्ताना व्यक्तित्व लेकर पैदा हुआ था । सभ कुछको छोड़कर चल देनेकी घरफूँक मस्ती और फकड़ाना लापरवाहीने कबीरदासको भारतीय साहित्यका सबसे आकर्षक महापुरुष बना दिया है । अपने इसी अनन्य-साधारण व्यक्तित्वके कारण कबीरदास नवयुगकी सृष्टि कर सके थे । कौन कह सकता है कि तुलसीदास केवल परिस्थितियोंकी खुपज थे और वे न भी होते तो क्या किसी क. ख. ग. ने वैसा ही राम-चरितमानस लिख दिया होता ? वस्तुतः ग्रंथकार केवल परिस्थितियोंकी ही देन नहीं है, खुसका व्यक्तित्व वह महत्वपूर्ण वस्तु है जो समाजमें नया प्राणदान करती है और परिस्थितियोंको अपनी अभीष्ट दिशामें मोड़ देती है ।

§१४. अब तकके वक्तव्यको कबीरके अुदाहरणसे इस प्रकार समझा जाय :—

कबीरदास

१. कालगत वैशिष्ट्य	भाषा और धर्मकी लोकाभिमुखता, दो धर्म-संस्कृति-योंका संघर्ष, हिंदुओंका सांस्कृतिक अुतार, अीश्वरपर अविचलित विश्वास, योग और तंत्र-प्रभाव अित्यादि।
२. देशगत वैशिष्ट्य	(१) भारतीयता आध्यात्मिकता, पुनर्जन्म, नामजप, गुरुवाद, कर्मफलवाद। (२) योग-प्रभाव समाधि, प्राणायाम, काया-साधनाकी विविध बातें। (३) निचला सामाजिक स्तर जातिगत वैषम्यकी तीव्र अनुभूति, समाज-व्यवस्थापर कठोर आक्रमण। (४) भक्त-प्रभाव निरीहता, नम्रता, प्रेम। (५) सुसलमानी प्रभाव बेभड़क खंडन, हीनता-ग्रंथिका अभाव, सामाजिक समतामें विश्वास।
३. पूर्ववर्ती और समसामयिक	(१) पूर्ववर्ती नाथपंथी और सहजयानियोंकी अकखड़ता, आक्रमणवृत्ति, पहेलियोंका भाषा। (२) समसामयिक सूफीमत, मुल्लों और पंडितोंका बाबाचार, निरंजन-पंथस साम्य आदि।
४. जीवन	जुलाहेका काम, गरीबी, गृहस्थधर्म।
५. व्यक्तित्व	फकड़, मस्त, आत्मविश्वासी, निरीह, बेपरवाह, दृढ़।

§१५. लेखकका इस प्रकार की रीति हम असलिये करते हैं कि खुसने जो कुछ लिखा है उसे ठीक-ठीक समझ सकें और खुस वक्तव्यका संपूर्ण आनंद ग्रहण कर सकें। असलिये प्रधान बात तो वह वक्तव्य ही है जिसके लिये लेखकके व्यक्तिगत जीवनका अध्ययन आवश्यक समझते हैं। वस्तुतः लेखकका वक्तव्य साहित्यका प्रधान विवेच्य है। अगर खुसके पास कहने योग्य कोई वस्तु है और खुस वक्तव्यमें नवीनता ताज़गी और सार है, तो अन्यान्य सारी बातें गौण हो जाती हैं। प्रतिभाशाली लेखक नये-नये साहित्यांगों और नये-नये साहित्यिक सम्प्रदायोंको जन्म दिया करते हैं। कम शक्तिशाली लेखक उनका अनुकरण करके रूढ़ि-पालन किया करते हैं।

लेखकके वक्तव्यका रसास्वादन कराना ही साहित्यिक समालोचकका कर्तव्य है। अतना यहाँ अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि लेखककी वक्तव्य-वस्तु सब समय कोई नयी सूचना या तर्क-युक्ति नहीं होती। दुनियाकी दृष्टिसे खुसका वाच्यार्थ (दे० § ३८) कभी कभी नितान्त मामूली वस्तु हो सकती है। पर ऊपर-ऊपरसे दीखनेवाले अर्थ असलमें महाकविकी वाणीको किसी बड़े सत्यकी ओर अशारा करनेके सुद्देश्यसे ही प्रयुक्त होते हैं (दे० § ४१)। इस प्रकार वक्तव्य-वस्तुका रसास्वादन कराना ही साहित्य-समालोचकका मुख्य कर्तव्य है, फिर भी इसके अतिरिक्त और सुद्देश्योंसे भी साहित्यका अध्ययन किया जाता है। हम संक्षेपमें खुसीका विवरण उपस्थित करने जा रहे हैं।

३. जातीय (वर्णश्रेणीय) साहित्य

§१६. समूची जाति (राष्ट्र, भी) एक व्यक्ति मनुष्यकी भाँति है। जिस प्रकार व्यक्ति मनुष्य कभी सोता है, कभी जागता है, कभी सोचता-विचारता है, कभी आनंदके तराने छेड़ देता है उसी प्रकार सारी जाति (राष्ट्र) भी अपने जीवनमें भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमेंसे गुजरती है। जिस प्रकार किसी रवीन्द्रनाथके विचार जाननेके लिये हम यह नहीं पूछते कि वे सपनेमें क्या बड़बड़ाते थे, या अपने बच्चेको क्या कहकर डाँट रहे थे, या छुटपनमें तोतली बोलीमें कौनसा शुद्ध या अशुद्ध अच्चारण कर रहे थे—यद्यपि मनुष्य रवीन्द्रनाथका निविडभावमें अनुभव करनेके लिये अन बातोंके प्रति हमारी जिज्ञासा उचित है—परन्तु किसी खास विषयपर उनके विचारकी जिज्ञासाके समय हम अन बातोंको नहीं जानना चाहते बल्कि उनकी प्रौढ़-विचारधारा, नाप-तौलकर लिखे हुअे वक्तव्य और सँवार-बनाकर कहे हुअे वाक्योंका अध्ययन करते हैं। ठीक वहाँ बात जातिके विचारोंके बारेमें भी सत्य है।

यदि हममें कोई पूछे कि भारतीय जातिने क्या सोचा-विचार है, उसकी बहुमूल्य चिन्ताराशि क्या है, तो हम उसे उस संपूर्ण साहित्यके उत्तम ग्रंथोंका निचोड़ सुनायेंगे जो वैदिक ऋषिसे लेकर प्रेमचंद तक महान् विचारकोंने रचा है।

महान् विचारक जातिकी चिन्ताशील अवस्थाके द्योतक हैं। इसी लिये किसी ग्रंथकारके ग्रंथ-विशेषका हम केवल उसी तक सीमित रखकर अध्ययन नहीं करते बल्कि उसे समूचे भारतीय साहित्यरूपी विराट् ग्रंथके एक अध्यायके रूपमें भी देखते हैं। कालिदास और तुलसीदास भारतीय मनीषाके दो भिन्न तहोंके परिचायक हैं।

असलिये जब हम किसी साहित्यके इतिहासको पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुतः उस जातिकी संपूर्ण चिन्ताराशि, अनुभूति-परम्परा और संवेदन-शीलताका परिचय पाना चाहते हैं। कालिदास, भवभूति, तुलसीदास और बिहारी परस्पर जितने भिन्न भी क्यों न हों वे वस्तुतः संपूर्ण भारतीय जाति (राष्ट्र) की भिन्न अवस्था और अनुभूति-परंपराके परिचायक हैं।

§१७. (क) हमने ऊपर देखा कि ग्रंथकारके अध्ययनके लिये उसके कालकी जानकारी आवश्यक है। परन्तु विरोधाभास यह है कि बिना ग्रंथकारोंके

हम विभिन्न काल-धर्मकी जानकारी प्राप्त ही नहीं कर सकते। गुप्त-कालीन ग्रंथोंके आधारपर ही मुख्यतया हम गुप्त-कालको समझ सकते हैं। इसीलिये जातिके भिन्न-भिन्न कालकी रीति-नीति, आचार-विचार, वेप-भूषा, ज्ञान-विज्ञान, धर्म-कर्म समझनेके लिये भी साहित्यका अध्ययन करते हैं। ऐसा कहे हम उस युगके प्राचीन मनुष्यको तो आमने-सामने पाते ही हैं अपने-आपको भी ठीक-ठीक समझते हैं।

हम पहले ही देख चुके हैं कि साहित्यकी रचना और उसके अध्ययन दोनों ही कार्योंके लिये मूल मनोभाव हमें बराबर सचेष्ट करते रहते हैं। कालिदास-के ग्रंथोंसे हम जानते हैं कि—अनु दिनों नागरिक लोग किस बातमें रस पाया करते थे ? नगरकी सुंदरियाँ कैसा श्रृंगार करती थीं ? प्रकृतिकी किन वस्तुओंसे कौन-सी सौंदर्य-वर्धक सामग्रियाँ संग्रह की जाती थीं ? राजपुरुष कैसे होते थे ? राजा और प्रजाका संबंध कैसा था ? और उस समयके साम्राज्य लोग किस प्रकार नाच-गान, उत्सव आदिका आनंद लेते थे ? कालिदास हमारे सामने अपने ज़मानेके स्त्री-पुरुषोंको प्रत्यक्ष उपस्थित कर देते हैं। हम उनके सुख-दुःख, आनंद-मंगल और आचार-विचारको निविडभावसे अनुभव करते हैं। कालिदासके सरल ग्रंथोंमें उस युगको हम जिस जीवन्त रूपमें पाते हैं, अतने जीवित रूपमें हम उस युगके किसी राजकीय विवरण-पुस्तिका (जो कदाचित् कहींसे मिल जाय)में नहीं पा सकते।

(ख) जातिका ठीक-ठीक परिचय केवल आत्मिक्यकी शान्तिके लिये ही आवश्यक नहीं है, जिस युगमें हम वास कर रहे हैं उसमें शांतिपूर्वक वास करनेके लिये भी हमें विभिन्न जातियोंकी जानकारी ठीक-ठीक होनी चाहिये। राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थवश और अपने संस्कारोंके कारण एक जाति दूसरीको गलत समझती है। आजकल यह बात बहुत जटिलरूपमें धारणा कर गयी है। यद्यपि वैज्ञानिक अन्नतिने देश और कालके व्यवधानको कम कर दिया है परन्तु मानसिक संकीर्णता उसी अनुपातमें कम नहीं हुयी है। इसका परिणाम पारस्परिक अविश्वास, युद्ध, विग्रह, कलह और रक्तपात होता है।

हम पहले ही देख चुके हैं कि उत्तम ग्रंथ जातिके ठीक-ठीक परिचायक हैं। उसकी आशा-आकांक्षा, गुण-दोष, आचार-विचार आदिको उसके महान ग्रंथ ही ठीक-ठीक उपस्थित करते हैं। इसलिये जातीय (राष्ट्रीय) साहित्यके उत्तम ग्रंथोंका अध्ययन और प्रचार मानव-समाजकी भावी सुख-शान्तिके लिये

भी आवश्यक है। शेषसपियरको पढ़कर हम अंग्रेज जातिकी जिस भीतरी सहृदयताका परिचय पाते हैं वह विदेशी लेखकोंकी लिखी हुआ सैकड़ों यात्रा-विवृतियोंसे भी नहीं पा सकते।

परिचय-ग्रंथ किसी खास प्रयोजनसे लिखे जाते हैं या किसी खास सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिये लिखे जाते हैं। इसीलिये सुनमें द्रष्टाके विचार ही प्रधान हो झुठते हैं। इस श्रेणीके लेखक सुस जातिका परिचय करानेके बदले सुस जातिसंबन्धी अपने विचारोंपर ही अधिक जोर देते हैं। फलतः सुससे गलत-फहमी पैदा होने या बढ़नेकी आशंका रहती है। मिस मेयोकी 'मदर अंडिया' में विष देशको अतने भेद रूपमें सुपस्थित किया गया था कि सुससे सारे संसारमें भारतवर्षके प्रति घृणाका भाव बढ़ जाता।

(ग) सुपर जो बात परिचय-ग्रंथके लेखकको लक्ष्य करके कही गयी है वह थोड़ी-बहुत मात्रामें कवि, नाटककार और सुपन्यास-लेखकमें भी अवश्य रहती है। परन्तु सुससे हमारे अध्ययनमें विशेष बाधा नहीं पड़ती। हम जानते हैं कि लेखकका अपना विशेष दृष्टिकोण है और वह भी उस विशेष दृष्टिकोणसे देखने पर ही निरन्तर जोर देता रहता है। फिर भी वह जीवित मनुष्यको दिखाता है। उनकी छाया या कंकालको नहीं। इसीलिये यद्यपि उसके विशेष दृष्टिकोणसे हम द्रष्टव्यके विशेष पहलुको देखते हैं परन्तु फिर भी हम निष्प्राण ठठरियोंके समस्त पहलुओंको देखनेकी अपेक्षा सच्ची और कामकी चीज देखते हैं। अंक कामकी चीजका देखना सौ बेकार और बेजान ठठरियोंके देखनेकी अपेक्षा निश्चय ही अधिक महत्वपूर्ण है।

§१८. सुपरकी बातको अंक अुदाहरणसे समझा जाय :—

हिंदीके प्रसिद्ध औपन्यासिक प्रेमचंद शताब्दियोंसे पढ़दलित और अपमानित कृषकोंकी आवाज थे। पदोंमें कैद, पद-पदपर लांछित और अपमानित असहाय नारी जातिकी महिमाके जबरदस्त वर्काल थे और गरीबों और बेकसोंके महत्वके प्रचारक थे। व्यक्तिगत रूपसे वे मनुष्यकी सद्वृत्तियोंमें विश्वास रखते थे और उसकी दुर्वृत्तियोंको अजेय तो मानते ही नहीं थे, उन्हें भावरूपमें स्वीकार भी नहीं करते थे। वे मानते थे कि जबोन्मुखी सभ्यताने हमें जड़ताको ही प्रधान और संप्रहणीय माननेकी ओर प्रवृत्त किया है। इसीकी बदौलत हम आज भी-

भम्भड़को, दिखाव-बनाव और टीम-टामको महत्व देने लगे हैं। ये वस्तुओं मनुष्यको महान नहीं बनाती बल्कि उसके मनको दुर्बल और आत्माको सशंक बना देती हैं।

व्यक्तिका आत्मबल उसकी जड़-पूजासे अवरुद्ध हो जाता है। जिसके पास ये जड़-बंधन जितने ही कम होते हैं वह उतनी ही जल्दी सत्यपरायण हो जाता है। रंगभूमिका गरीब सुरदास धनी विनयकी तुलनामें शीघ्र प्राप्य और स्थायी आत्मबलका अधिकारी हो जाता है। यह प्रेमचंदका अपना दृष्टिकोण है। इस विशेष दृष्टिसे दुनियाको देखनेके लिये ही वे अपने पाठकको निमंत्रित करते हैं, परन्तु फिर भी खुनकी रची हुयी दुनिया सत्य है। अगर कोई उत्तर भारतकी समस्त जनताके आचार-विचार, भाव-भाषा, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझको जानना चाहे तो प्रेमचंदसे अधिक उत्तम परिचायक इस युगमें नहीं पा सकेगा। झोपड़ियोंसे लेकर महलों तक, खोमचोंसे लेकर बंकों तक, ग्राम-पंचायतोंसे लेकर धारा-सभाओं तक उसे अतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिकताके साथ कोई दूसरा नहीं ले जा सकता।

कोई भी जिज्ञासु, प्रेमचंदकी अँगुली पकड़कर बेखटके मेंडों पर गाते हुअे किमानको, अन्तःपुरकी मानवती बहूको, कोठे पर बैठी हुयी वार-विलासिनीको, रोटियोंके लिये ललकते हुअे भिखमंगको, कूट-परामर्शमें लीन गीयन्दाँको, आर्यापरायण प्रोफेसरोंको, दुर्बल-हृदय बैंकरोंको, सहसी चमारोंको, ढोंगी पंडितको, फरबी पटवाराँको और नीचाशय अमीरको देख सकता है और निश्चिन्त होकर विश्वास कर सकता है कि जो कुछ उसने देखा है वह गलत नहीं है। इससे अधिक सच्चाईके साथ दिखा सकनेवाले परिदर्शकको हिन्दी और अर्द्धकी दुनिया नहीं जानती। पर सर्वत्र ही वह लक्ष्य करेगा कि जो संस्कृतियों और संपदाओंसे लद नहीं गये हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गँवार और जाहिल समझे जाते हैं वे उन लोगोंकी अपेक्षा अधिक आत्मबल दिखाते हैं जो शिक्षित हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं।

यह प्रेमचंदका अपना विशेष दृष्टिकोण है। इससे हम उत्तर-भारतकी जनताको देखनेकी एक विशेष दृष्टि पाते हैं, परन्तु यह दृष्टि हमें उस जनताके वास्तव रूपको समझनेमें बाधक नहीं है। यह वास्तव परिचयके अतिरिक्त हमारा

अधिक लाभ है। परन्तु जब भारतवर्षका कोभी परिचय-लेखक अपनी विशेष अुद्देश्यकी सिद्धिके लिये ग्रंथ लिखता है और बताता है कि इस प्रकारके वायु-मंडल और तापमानमें रहनेवाले आदमी आलसी, कल्पनाशील और कामचोर होंगे ही तो बहुत कुछ छोड़ देता है, बहुत कुछ जोड़ देता है और बहुत कुछ अपने मनसे गढ़ लेता है। हम सब समय उसका विश्वास नहीं कर सकते।

४. साहित्यका व्याकरण

§१९. कोभी भी पुस्तक कुछ शब्दोंका संघात है। शब्दोंके समूह ही तो पुस्तक कहलाते हैं। परन्तु वे शब्द सजाकर इस प्रकार रखे गये होते हैं कि उनसे हम अेक अर्थ पाते रहते हैं। अनिमें कुछ संज्ञा शब्द हैं, कुछ क्रियापद हैं, कुछ विभक्तियाँ हैं, कुछ उपसर्ग हैं, कुछ प्रत्यय हैं और फिर अनि सबका अेक सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही बड़ी चीज है, क्योंकि यह न रहे तो शब्दोंसे कुछ अर्थ निकलना असंभव हो जाय। इस संबंधको बतानेवाले शास्त्रको व्याकरण कहते हैं।

साहित्यका भी अपना व्याकरण है। इसे अलंकार-शास्त्र कहते हैं और इस शास्त्रके आचार्योंको आलंकारिक। यह शास्त्र शब्दोंके प्रकृति-प्रत्ययको लेकर सिर नहीं खपाता बल्कि शब्द और अर्थकी मनोहारिणी व्याख्या करता है। इस शास्त्रमें शब्दकी शक्तियाँ, उसका अर्थ, रस, गुण, दोष और अलंकारकी विवेचना होती है। साहित्यके विद्यार्थीको अनि बातोंकी जानकारी ज़रूर होनी चाहिये और जुधे यह भी मालूम होना चाहिये कि साहित्यके रसास्वादनमें इस शास्त्रकी मर्यादाका क्या महत्व है। बहुत ज़रूरी बातोंकी चर्चा हम यहाँ संक्षेपमें कर लें तो अच्छा रहेगा। यह विषय बहुत शास्त्रीय है पर यहाँ चर्चा करते समय हम इसे कमसे-कम शास्त्रीय ढंगसे कहेंगे। सहज करके कहना ही हमारा अुद्देश्य है।

§२०. 'शेर' शब्दके सुनते ही हमारे सामने जो अेक विशेष प्राणीका रूप उपस्थित हो जाता है उसका कारण क्या है? आलंकारिक लोग कहते हैं कि शब्दकी अेक विशेष शक्ति होती है जिसके द्वारा 'शेर' शब्दका अर्थ अेक विशेष प्रकारका जीव होता है, नाव या महल नहीं। इस शक्तिका नाम

अभिधा-वृत्ति है। वह शक्ति शब्दके उस अर्थको बताती है जो कोष और व्याकरणसे प्राप्त है, जो परंपरासे एक आदमी दूसरेसे सुनता और सीखता आ रहा है। आलंकारिक लोग इस बातको कहनेके लिये एक बड़ा लंबा-सा शब्द व्यवहार करते हैं। यह शब्द है 'साक्षान्त-संकेतित' अर्थात् 'शेर' शब्द कहनेसे सीधे एक जीव-विशेषका ज्ञान होता है, बीचमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह साक्षान्त-संकेतित अर्थ कौण्टसे, व्याकरणसे और व्यवहारसे तथा विश्वसनीय व्यक्तिसे जाना जा सकता है। इस शक्तिके द्वारा जो अर्थज्ञान होता है उसे अभिधेय या वाच्य अर्थ (वाच्यार्थ) कहते हैं।

§२१. लेकिन जब कहा जाय कि 'लड़का शेर है' तो स्पष्ट ही 'शेर' शब्दका वाच्यार्थ काम नहीं दे सकता। दुनिया जानती है कि लड़का आदमी है, शेर नहीं; फिर भी भाषामें ऐसे प्रयोग बराबर ही होते हैं और समझनेवाले समझ भी लेते हैं। जब कहा जायगा कि लड़का शेर है तो समझदार आदमी समझेगा कि लड़का वीर है, साहसी है, निर्भीक है। सारे हिन्दी शब्द-सागरको खोजनेपर भी शेर शब्दका यह अर्थ नहीं मिलेगा। तो फिर निश्चय ही अभिधाके सिवा और भी कोई शक्ति शब्दमें अवश्य है जो शेरके मुख्य अर्थको दबाकर एक दूसरे अर्थको प्रकाशित करती है। इस शक्तिको लक्षणा कहते हैं। जब मुख्यार्थका बाध होता है तो उस मुख्यार्थसे संबद्ध किसी और अर्थको यह शक्ति प्रकट करती है। जब वक्ता इस शक्तिका सहारा लेता है तो उसके सामने कोई-न-कोई प्रयोजन रहता है, या फिर उस अर्थमें शब्द रूढ़ हो गया होता है। जब वक्ता कहता है कि लड़का शेर है तो उसके मनमें लड़केकी बहादुरी बढ़ाकर कहनेका प्रयोजन जरूर रहता है। इस शक्तिसे जो अर्थ पाया जाता है उसे लक्ष्य अर्थ (लक्ष्यार्थ) कहते हैं। ऊपरकी बात मनमें विचारें तो मालूम होगा कि लक्षणा में तीन बातें आवश्यक हैं :—

- (१) मुख्यार्थका बाध ;
- (२) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थका संबंध; और
- (३) प्रयोजन।

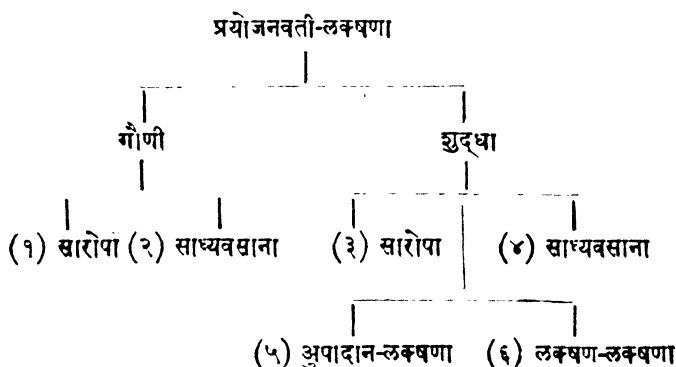
आलंकारिक पंडित बिना प्रयोजनवाला अेक लक्षणा भी मानते हैं । 'पत्र' का मुख्य अर्थ पत्ता है । अब उसका अर्थ चिट्ठी और अखबार हो गया है । इस प्रकार पत्र शब्द चिट्ठीके अर्थमें रूढ़ हो गया है ।

§२२. साहित्यमें इस शक्तिकी बड़ी प्रबलता है । इसीलिये इसके प्रधान भेदोंकी जानकारी आवश्यक है । (१) कभी-कभी मुख्यार्थ अेकदम छूट जाता है । 'जैसे अमेरिका बनी है' इस वाक्यमें अमेरिका शब्दका मुख्यार्थ देश-विशेष है । वह अेकदम छूट गया है और उसका अर्थ हो गया है उस देशके आदमी । अैसे स्थानोंपर जो लक्षणा होती है उसे 'लक्षणा-लक्षणा' कहते हैं । (२) कभी-कभी शब्दका मुख्यार्थ भी बना रहता है और उससे सम्बन्ध कोअी दूसरा अर्थ भी सूचित होता है । जब कहा जाता है कि 'टैंक बड़ी तेजीसे बढ़ रहे हैं' तो इस वाक्यमें टैंक शब्दका अर्थ होता है टैंक और उसके चलानेवाले सैनिक दोनों । टैंकका मुख्यार्थ तो अेक जब वस्तु है, वह कैसे चलेगा ? इस प्रकार मुख्यार्थ बाधित है । यहाँ शब्द अपने मुख्यार्थको छोड़ नहीं देता । अैसे स्थलोंपर जो लक्षणा होती है उसे 'अुपादान-लक्षणा' कहते हैं । (३) फिर अैसा भी होता है कि अेक शब्दका अर्थ दूसरेपर आरोप कर दिया जाता है । 'ब्राह्मण गाय है' का अर्थ है ब्राह्मण निरीह है । यहाँ गायकी निरीहता ब्राह्मण-पर आरोपित है । अैसे स्थलोंपर जो लक्षणा होती है उसे 'सारोपा-लक्षणा' कहते हैं । (४) कभी-कभी अेक विचित्र ढंगका प्रयोग होता है । जब हम कहते हैं कि 'धी आयु है' तो सारोपा लक्षणासे अर्थ कर लेते हैं, लेकिन कोअी कहे कि 'यह आयु ही है' और धीका नाम ही न ले तो अैसे स्थलोंपर जो लक्षणा होगी उसे 'साध्यवसाना-लक्षणा' कहेंगे । इस प्रकारका प्रयोग आरोपका आधार आरोप होनेवाले अर्थमें अपनी सत्ता ही खो देता है । तो इस प्रकार मुख्य रूपसे लक्षणा चार प्रकारकी हुअी :— (१) लक्षणा-लक्षणा, (२) अुपादान-लक्षणा, (३) सारोपा-लक्षणा, और (४) साध्यवसाना-लक्षणा ।

अंतिम दो लक्षणाओंमें आरोपके आधार और आरोप्यमाणमें कोअी-न-कोअी सम्बन्ध होता है । 'ब्राह्मण गाय है' इस वाक्यमें ब्राह्मण और गायमें निरीहता नामक गुणका सादृश्य है । गुणोंका सादृश्य जिनमें होता है अुन लक्षणा-

ओंको 'गौणी-लक्षणा' कहते हैं। किन्तु गुण-सादृश्यके अतिरिक्त और किसी संबंधसे लक्षणा हुआ हो तो उसे शुद्धा कहते हैं। इस प्रकार अन्तिम दो लक्षणाओंमेंसे गौणी और शुद्धा नामसे दो-दो भेद हो जाते हैं। अर्थात् सब मिलाकर छः प्रकारकी लक्षणाएँ हुईं :— लक्षण-लक्षणा, अपादान-लक्षणा, गौणी सारोपा-लक्षणा, शुद्धा सारोपा-लक्षणा, गौणी साध्यवसाना-लक्षणा और शुद्धा साध्यवसाना-लक्षणा।

नीचेके कोष्ठकसे प्रयोजनवती लक्षणमके ६ भेद स्पष्ट होंगे—



इस प्रकार गौणीके दो और शुद्धाके चार ये कुल ६ लक्षणाएँ हैं। लक्षणाके प्रसंगमें हम बराबर 'प्रयोजन' की बातें करते आ रहे हैं। यह प्रयोजन न तो वाच्यार्थ होता है और न लक्ष्यार्थ। वह वस्तुतः व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ भी आचार्योंने दो प्रकारके बताये हैं—(१) गूढ़ और अगूढ़। गूढ़-व्यंग्यको वही समझ सकता है जो मर्मज्ञ हो, पर अगूढ़-व्यंग्य सहज ही समझमें आ जाता है। ब्रूएर बतायी हुई लक्षणाके छहों भेदोंमेंसे प्रत्येक लक्षणा गूढ़-व्यंग्या और अगूढ़-व्यंग्या भेदसे दो-दो प्रकारकी बतायी गयी है। इनके शुद्धाहरणादि लक्षण-ग्रंथोंमें देखने चाहिये।

§ २३. अभिधा और लक्षणाके अतिरिक्त शब्दकी एक तीसरी शक्ति भी आलंकारिक आचार्य मानते हैं। अिन आलंकारिकोंके सिवा अन्य शास्त्रकार इस तीसरी शक्तिको नहीं मानना चाहते। इस तीसरी शक्तिका नाम व्यंजना

है। जिससे जो अर्थ सूचित होता है उसे व्यंग्यार्थ कहते हैं। पहले जिन दो वृत्तियोंकी चर्चा हुई थी है उनसे यह भिन्न प्रकारकी है। अभिधा और लक्षणा केवल शब्दके बलपर ही काम करती हैं; यह अर्थके बलपर भी। जिसीलिये इनके दो भेद किये गये हैं—शाब्दी और आर्थी। यह व्यंजना अभिधामूलक भी होती है, लक्षणामूलक भी होती है और व्यंजनामूलक भी होती है। सासने बहूसे कहा—‘सूर्य अस्त हो गया।’ बहूने जिसका अर्थ समझा कि दीपक जलाओ। यह अर्थ वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यका दीपक अर्थ और अस्त होनेका जलाना अर्थ किसी प्रकार साक्षात्संकेत नहीं है। फिर यह अर्थ लक्ष्य भी नहीं है। क्योंकि लक्षणाकी पहली शर्त है मुख्यार्थमें बाधा। सो सूर्यका मुख्यार्थ जो आसमानमें चलता दिखनेवाला झुज्ज्वल नक्षत्र-पिंड है वही यहाँ भी है। उसका अस्त होना ठीक ही प्रयोग है। कहीं कोभी बाधा नहीं है। जिसीलिये इस अर्थको न तो वाच्य ही कह सकते हैं और न लक्ष्य ही।

(१) कभी बार ऐसा होता है कि एक ही शब्दके अनेक साक्षात्संकेतित अर्थ होते हैं। प्रसंग देखकर कोभी एक अर्थ नियत कर लिया जाता है। सैन्धव घोड़ेको भी कहते हैं, नमकको भी। भाजनके प्रसंगपर सैन्धव माँगनेवालेको नमक ही दिया जायगा, घोड़ा नहीं। प्रसंगसे सैन्धवका अर्थ नियत हो गया है। अभिधा द्वारा जब कोभी एक अर्थ नियत हो जाता है और फिर भी उस अर्थसे यदि दूसरा अर्थ प्रतीत होता हो तो वहाँ अभिधामूला-व्यंजना समझनी चाहिये। हम और देख आये हैं कि लक्षणामें एक प्रयोजन रद्दा करता है। उस प्रयोजनको व्यंग्य अर्थ ही समझना चाहिये। क्योंकि प्रयोजन न तो वाच्य ही है और न लक्ष्य ही। जिसीलिये निश्चय ही किसी तीसरी शब्द-शक्तिका विषय है।

जिस प्रयोजनकी प्रतीति करानेवाली शक्तिको लक्षणामूला-व्यंजना कहते हैं। लक्षणा-ग्रंथोंमें बताया गया है कि अभिधामूला और लक्षणामूला शाब्दी-व्यंजनाओंके अतिरिक्त आर्थी-व्यंजना भी होती है। इन दोनोंको शाब्दी-व्यंजना जिसीलिये कहते हैं कि अभिधामूला तो अनेकार्थक शब्दोंपर निर्भर है और लक्षणामूला लक्षणीक शब्दोंपर।

(२) आर्थी-व्यंजना वहाँ होती है जहाँ निम्नलिखित १० बातोंमेंसे किसी एक या अधिकके वैशिष्ट्यसे व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है। ये दस बातें

ये हैं—(१) वक्ता या कहनेवाला, (२) बोधव्य या सुननेवाला, (३) काकु या कंठध्वनिकी विशिष्ट भंगी, (४) वाक्य, (५) वाच्य, (६) अन्य-सन्निधि अर्थात् कहनेवाले और सुननेवालेके अतिरिक्त किसी तीसरेकी उपस्थिति, (७) प्रकरण, (८) देश, (९) काल और (१०) चेष्टा। काव्य पढ़नेवालेको नित्य ही अैसे प्रसंग मिलते रहते हैं जहाँ अनि दसोंमेंसे किसी भी एककी विशिष्टतासे और-का-और अर्थ प्रतिभासित हो जाता है। सीताजीने अयोध्यासे जरा बाहर निकलते ही कहा—‘पिय पर्णकुटी करिहौं कित हैं !’ यहाँ वक्ताकी विशिष्टतासे तुरत पता चल जाता है कि कभी घरसे बाहर पैदल चलनेका अभ्यास न होनेसे सीताजी थक गयी हैं। यहाँ वक्ताकी विशिष्टतामें ही व्यंग्यार्थकी प्रतीति होती है।

अन्य-सन्निधिका भी एक अदाहरण लिया जाय। एक लड़की किसी लड़केसे प्रेम करती है। उससे मिलनेको व्याकुल है, पर उसे कोई खबर भी नहीं भिजवा सकती। अचानक एक दिन वह लड़का दिख गया, पर उस समय लड़कीकी सखी मौजूद थी। लड़कीने होशियारीके साथ अपनी सखीसे कहा—‘क्या बताऊँ सखी, दिनभर काममें जुती रहती हूँ। सिर्फ शामको थोड़ी फुरसत मिलती है तब कहीं नदी-किनारे पानी लाने जाती हूँ, पर उस समय वहाँ कोई चिड़ियाका पूत भी नहीं होता। क्या करूँ लाचार हूँ।’ इस साधारण वाक्यका अर्थ उस लड़केके नजदीक रहनेसे यह हो जाता है कि तुम शामको नदी-किनारे मिलो। यह सब आर्था-व्यंजनाके अदाहरण हैं।

§२४. इस प्रकार शब्द तीन प्रकारके हुअे—वाचक, लक्षक और व्यंजक। अर्थ भी तीन प्रकारके हुअे—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। जब व्यंग्यार्थका चमत्कार अितना शक्तिशाली हो कि वह वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थके चमत्कारको दबा दे तो उसे व्यंग्यार्थकी ध्वनि कहते हैं। किसी ध्वनिको उत्तम काव्यका आत्मा कहा गया है। जब उसका चमत्कार वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थसे कुछ दबकर हो या बराबर-बराबर हो, काव्य मध्यम हो जाता है, और जब वह अेकदम हो ही नहीं या अत्यन्त फीका हो तो काव्य अवर या चित्र कहा जाता है। व्यंग्यक प्रधानता ही काव्यकी जान है।

पुराने आलंकारिक आचार्योंने ध्वनिके अनेक भेद-लुपभेद गिनोये हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि अन्यान्य शास्त्रकार अभिधा और लक्षणाके अतिरिक्त व्यंजनात्मक किसी तीसरी शक्तिको नहीं मानते (दे० १२३)। वस्तुतः आलंकारिक पंडित भी व्यंजनाके लिये मूलरूपसे अिन दो शक्तियोंको आधार मानते ही हैं। अिसीलिये ध्वनि या तो लक्षणामूलक होती है या अभिधामूलक। लक्षणामूला-ध्वनिमें वाच्यार्थ या तो दूसरे अर्थमें संक्रमित हो गया होता है या अत्यन्त तिरस्कृत होता है। वर्षाकालमें सीताके वियोगसे अत्यन्त व्याकुल होकर रामचंद्रने कहा कि 'मैं राम हूँ, सब सह लेंगा। पर हाय, जानकी कैसे सहेगी!' अिसमें 'राम' शब्दका अर्थ है नाना दुःख-शोकको सहनेवाला कठोर-हृदय व्यक्ति। यहाँ 'राम' शब्द 'क्रूर और कठोर-हृदय' अिस दूसरे अर्थमें संक्रमित हो गया है। कभी-कभी वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत होता है। जैसे कोअी अपने शत्रुसे कहे कि 'वाह, आपकी भलमनसाहतका क्या कहना!' तो भलमनसाहतका वाच्यार्थ अेकदम छूटकर दुर्जनता अर्थ हो जायगा और अत्यधिक अपकार करनेकी ध्वनि निकलेगी। अिस प्रकार लक्षणामूला-ध्वनि या अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य होती है या अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य।

पर अभिधामूला-ध्वनिमें वाच्यार्थ तिरस्कृत नहीं होता। यहाँ वाच्यार्थ विवाकिषत या वांछित रहता अवश्य है, पर अन्यपरक हो जाता है। अिसीलिये अिसे 'विवकिषतान्यपर-वाच्य' जैसा लंबा नाम दिया गया है। पंडितोंने अिसके अनेक भेद-लुपभेद किये हैं। मोटे-मोटे भेद भी अनेक हैं। पर मुख्य रूपसे दो भाग हैं। कभी-कभी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थका क्रम समझमें आ जाता है। सुन स्थलोंपर 'संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' होता है, पर कहीं-कहीं सुनको लक्ष्य करना कठिन है। सुसे 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' कहते हैं। यह अन्तिम भेद रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदिमें होता है। आगेकी आलोचनाओंके लिये अितना जानना ही पर्याप्त है। विशेष जाननेके लिये किसी लक्षण-ग्रंथको पढ़ना चाहिये।

१२५. हम नीरस चर्चामें लगे हुए हैं। व्याकरण साहित्यका भी हो तो व्याकरण ही है, वह नीरस तो होगा ही। परन्तु अलंकार-शास्त्रके आचार्य व्याकरण लिखते समय भी कुछ सरसता जरूर बनाये रखते थे। भीतरसे प्रायः

सभी कवि थे। कविता सुनकी दृष्टिमें एक सुंदरी स्त्रीके समान है। हमने अपूर देखा है कि सुसकी आत्माका नाम ध्वनि है। बहुत ठीक। आत्माका पता तो चल गया, परन्तु केवल आत्माका तो कोभी रूप नहीं होता। सुस सुंदरी स्त्रीके कुछ हाथ-पैर होंगे, कुछ गहने-कपड़े होंगे, कुछ भले-बुरे आचार-विचार होंगे—अन सबक बिना सुंदर रूपकी कल्पना ही कैसे हो सकती है? सो, आलंकारिक पंडितोंने अन बातोंको भी गिना दिया है :— शब्द और अर्थ ही सुस कविता-सुंदरके शरीर हैं; शब्दों और अर्थोंके नाना प्रकारके दृश्यग्राही कौशल जिन्हें साहित्य-शास्त्रमें 'अलंकार' कहा जाता है, वे ही कविता-सुंदरीके गहने हैं; शूरता, मधुरता आदि धर्म जिस प्रकार मनुष्यके गुण हैं सुसी प्रकार जिस कविता-सुंदरीके भी कुछ 'गुण' हैं। शास्त्रमें सुसका नाम भी 'गुण' दिया हुआ है। जिस प्रकार कानापन, लंगड़ापन, लूलापन आदि दोष मनुष्यके हुआ करते हैं सुसी प्रकार शब्द और अर्थका कानापन-लंगड़ापन भी हुआ करता है, कविता-सुंदरीके ये ही दोष हैं। इस प्रकार यह कविता-सुंदरी सब प्रकारसे मनुष्य-जैसी ही है। जिस प्रकार कोभी मानव-सुंदरी सब अलंकार पहन ले, परन्तु सुसमें आत्म हो ही नहीं तो वह भद्दी निर्जिव जड़-पिंडके सिवा और कुछ नहीं होती; सुसी प्रकार जिस कवितामें अलंकार तो अनेक हों, पर ध्वनि हो ही नहीं, वह निर्जिव और भद्दी है।

लेकिन किसीमें आत्मा हो किन्तु सुसमें आत्मिक ज्योति न हो, केवल बनाव-सिगारको, केवल बाहरी वस्तुओंको अितना महत्त्व दे रही हो कि सुसके भीतरकी ज्योति दब गयी हो; वह स्त्री यद्यपि सजीव कही जायगी परन्तु उसे कोभी अच्छी स्त्री नहीं कहेगा। सुसी प्रकार कवितामें यदि ध्वनि कमजोर हो और अलंकार ही प्रधान हो तो कविता मध्यम मानी जायगी।

जिस प्रकार बिना गहनेके भी शौर्य-माधुर्यवती और सती-साध्वी स्त्री सबकी श्रद्धा आकृष्ट करती है, सुसी प्रकार कविता भी यदि सुत्तम ध्वनिवाली हो और सुसमें एक भी अलंकार न हो तो भी सहृदयोंकी श्रद्धा आकृष्ट करती है। जिस प्रकार हम सुस स्त्रीको भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं जो सीधी-सादी साफ हो और देशके पतनोन्मुख युवक-युवतियोंको अपनी तेजोमयी वाणीसे आत्म-त्याग और बलिदानका मार्ग सिखाती हो, सुसी प्रकार हम सुस कविताको भक्ति-पूर्वक स्मरण करते हैं जो सहज और सीधी होती है और हमें आत्मत्याग और

बलिदानका मार्ग सिखाती है। भोग और पतनकी ओर ले जानेवाली कविता भी उत्तम नहीं है और स्त्री भी नहीं। स्त्री जिस प्रकार संसारकी त्राणकारिणी है, स्थिति-रक्षिका है, धर्म और त्यागकी मार्गदर्शिका है, सेवा और बलिदानकी शिक्षादात्री है, उसी प्रकार कविता भी है। जिस प्रकार निर्जीव आदमीमें कोई गुण नहीं रह सकता, क्योंकि श्रुता मधुरता आदि गुण आत्मामें रहते हैं; उसी प्रकार निर्जीव ध्वनिहीन कवितामें कोई गुण नहीं होते। जिस प्रकार गहने बाहरी चीज हैं उसी प्रकार काव्यमें अलंकार भी बाह्य वस्तुओं हैं।

§२६. 'काव्यकी आत्मा ध्वनि है' यह सिद्धान्त यद्यपि काफी पुराना है, परन्तु फिर भी बहुत पुराना नहीं कहा जा सकता। जिन दिनों यह सिद्धान्त प्रतिष्ठा लाभ करने लगा था, उन दिनों काव्य नामसे ऐसी बहुत-सी बातें परिचित हो चुकी थीं जिन्हें इस सिद्धान्तके माननेवालोंको छोड़ देना पड़ता। ध्वनिके सिद्धान्तको माननेवालोंने बहुतैरी बातोंको उत्तम काव्य माननेसे अन्कार कर दिया, पर बहुत कुछको उन्होंने स्वीकार भी किया। ध्वनिको ही उन्होंने तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया—(१) वस्तु-ध्वनि, (२) अलंकार-ध्वनि और (३) रस-ध्वनि। जहाँ कोई वस्तु या अर्थ ध्वनित होता हो वहाँ 'वस्तु-ध्वनि', जहाँ कोई अलंकार ध्वनित हो वहाँ 'अलंकार-ध्वनि' और जहाँ कोई रस ध्वनित हो वहाँ 'रस-ध्वनि'। ऐसा जान पड़ता है कि व्यवहारमें ये सभी ध्वनिवादी रस-ध्वनिको ही काव्यकी आत्मा मानते थे। प्रथम दो प्रकारकी ध्वनियाँ प्राचीन आचार्योंसे समझाता करनेके लिये मान ली गयी थीं। रसको उत्तम ध्वनि तो माना ही गया है, विश्वनाथ नामक आचार्यने तो रसात्मक वाक्यको ही काव्य कहा है अर्थात् उनके मतसे काव्यकी आत्मा रस है, बाकी दो ध्वनियाँ नहीं। हमने दूसरी पुस्तकमें यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि जब ध्वनिवादी आचार्य ध्वनिको काव्यकी आत्मा कहते हैं तो वस्तुतः उनका अभिप्राय रस-ध्वनिसे ही होता है।

§२७. रस नौ है। नाटकमें आठ ही रस बताये गये हैं। भरत मुनिने अपने नाट्य-शास्त्रमें कहा है कि 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावके योगसे रसकी निष्पत्ति होती है।' यह बात सूत्र-रूपमें कही गयी है। इसके प्रत्येक शब्दकी व्याख्या आवश्यक है।

(१) विभाव दो प्रकारके होते हैं—आलम्बन और अुद्दीपन । आलम्बन जैसे नायक और नायिका; अुद्दीपन जैसे चाँदनी, अुद्यान, मलयपर्वत अित्यादि ।
 (२) कटाक्ष, रोमांच आदि शरीर-संबंधी विकारोंको अनुभाव कहते हैं ।
 (३) संचारीभाव वे हैं जो मनमें सुठने-पड़ते और आते-जाते रहते हैं । शास्त्रकारोंने बताया है कि संचारी-भाव कुल तैंतीस हैं । (४) काव्य या नाटकमें कुछ ऐसे भाव होते हैं जो शुरूसे अन्ततक रहते हैं, अिनको स्थायी-भाव कहते हैं । ये ही स्थायी-भाव रस-रूपमें परिणत होते हैं । नौ रसोंके स्थायी-भाव भी नौ हैं—

रस	स्थायी-भाव	रस	स्थायी-भाव
शृंगार	रति या लगन	वीर	अुत्साह
हास्य	हास	भयानक	भय
करुण	शोक	वीभत्स	जुगुप्सा
रोद्र	क्रोध	अद्भुत	विस्मय
		शान्त	निर्वेद

§२८. नाटकमें शान्तको रस नहीं मानते । अब हम भरत मुनिके सूत्रको समझ सकते हैं । अुसमें जो अनुभाव, विभाव और संचारी-भाव शब्द हैं अुनके अर्थ हमें मालूम हो गये । बाकी रहा 'निष्पत्ति' शब्द । अिस निष्पत्तिका क्या अर्थ है ? हमने अूपर लक्ष्य किया है कि काव्य या नाटकमें कोअी अेक स्थायी-भाव जरूर रहता है जो शुरूसे आखिरतक बना रहता है । हमने अूपर यह भी लक्ष्य किया है कि नायक-नायिका आदिको आलम्बन कहा जाता है । वस्तुतः यों कहना चाहिये कि जब नायिकाके चित्तमें प्रेमका प्रादुर्भाव होता है तो आलम्बन नायक होता है, और जब नायकके चित्तमें प्रेमका प्रादुर्भाव होता है तो आलम्बन नायिका होती है । जिसके चित्तमें प्रेमभाव आविर्भूत होता है वह आश्रय कहा जाता है । तो स्थायी-भाव आश्रयके चित्तमें आलम्बनके सहारे प्रवृत्त होता है और अुद्दीपन द्वारा अुद्दीप्त होता है ।

अिस प्रकार अुद्दीपित किये जानेके बाद आश्रयके शरीरमें कुछ विकार होते हैं, वे अनुभाव कहे जाते हैं । स्थायी-भाव आदिसे अन्ततक वर्तमान रहता है पर बीचमें कभी शंका, कभी असूया, कभी लज्जा, कभी भय आदि संचारी-भाव

आते-जाने रहते हैं। नाट्यशास्त्रमें बताया गया है कि स्थायी ही राजा है, अन्यान्य भाव उसके सेवक हैं। अग्नी शास्त्रमें यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्य, सौंफ आदि मसाले वगैरहके संयोगसे छः रस निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार नाना भावोंसे उपहित स्थायी-भाव रसत्वको प्राप्त होता है।

जान पड़ता है कि स्वयं भरत मुनि निष्पत्ति शब्दका अर्थ आस्वाद ही समझते थे। अन्होंने अनेक बार भोज्य वस्तुके रसके साथ उसकी तुलना की है। अब ध्यानसे विचारकर देखा जाय कि नींबू, चीनी आदिके संयोगसे शर्बतका जो आस्वाद होता है वह न तो नींबू ही है न चीनी ही, न पानी है, न अिन सबका योगफल ही है और न अिनके बिना रह ही सकता है। वह रस अिन सबसे भिन्न है और फिर भी अिन्हीं वस्तुओंसे निष्पन्न या अभिव्यक्त हुआ है। ठीक अिसी प्रकार विभाव-अनुभाव आदिके योगसे जो रस निष्पन्न होता है वह न तो विभाव ही है, न अनुभाव ही है, न संचारी-भाव ही है, न स्थायी-भाव ही है, न अिन सबका योगफल ही है और न अिनके बिना रह ही सकता है। यह रस भी अिन सब वस्तुओंसे भिन्न है और फिर भी अिन्हींसे निष्पन्न हुआ है। अिसीलिये कविका अुद्देश्य अिन सभी वस्तुओंका सूक्ष्म रूपसे वर्णन करना नहीं है, बल्कि अिन सारी बातोंको साधन बनाकर अुस अलौकिक चमत्कारवाले रसको व्यंग्य करना है।

अूरके कथनका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि रसके साथ विभाव, अनुभाव आदिका संबंध व्यंग्य-व्यंजक संबंध है। अर्थात् विभाव, अनुभाव आदि व्यंजक हैं और रस व्यंग्य है।

§२९. नाटक देखनेवाले या काव्य सुननेवाले सहृदयके चित्तमें स्थायी-भाव नाना प्रकारके पूर्व अनुभवोंके कारण पहलेसे ही वासनारूपमें स्थित होता है। काव्य, नाटक आदिसे वह स्थायी-भाव (रति आदि) अुद्बुद्ध और आस्वादित होता है। काव्यमें अेक अैसी साधारणाकरणकी शक्ति होती है जो राममेंसे रामत्व, सीतामेंसे सीतात्व और सहृदय श्रोतामेंसे श्रोतृत्व आदि दृढाकर साधारण स्त्री-पुरुषके रूपमें अुन्हें अुपस्थित करती है। जब काव्यार्थ अिस प्रकार अुपस्थित होता है तो अुसके फलस्वरूप सत्त्वगुणका अुद्रेक होता है—मनुष्य

दुनियाकी संकीर्णतासे ऊपर उठता है, उसका चित्त प्रकाशमय और आनंदमय हो जाता है। प्रकाश और आनंद सत्त्वगुणके ही धर्म कहे जाते हैं, इसलिये जिस अवस्थामें मनुष्य छोटे-मोटे स्वार्थके अंधकारसे बाहर निकल आता है, संकीर्णताके भाससे हल्का हो जाता है और अंक आनंदकी अवस्थामें आ जाता है। उस समय सत्त्वगुणका सुद्रेक हुआ रहता है।

रसकी अनुभूतिके समय अँसा हो होता है। रस विश्वजनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक राग-द्वेष नहीं होता। रस-बोधके समय महदय विभावोंके साथ अपना अभेद अनुभव करता है। अभेदकी अनुभूतिमें कोई बाधा पड़े तो रसानुभव असंभव हो जाता है। वह लौकिक भय-प्रीतिजनक व्यापारोंसे भिन्न होता है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत सुख-दुःखका स्वार्थ नहीं होता। लोकमें एक स्त्री एक पुरुषके प्रति जब अभिलाषा प्रकट करती है तो उस अभिलाषामें व्यक्तिगत सुख-दुःखका भाव रहता है; पर काव्यमें जब यह बात होती है तो कविका शब्द-वेन्यास मनुष्यको एक अँसी अवस्थामें पहुँचा देता है जहाँ वैयक्तिक सुख-दुःखका भाव नहीं रहता। वहाँ महदय एक निर्वैयक्तिक अलौकिक आनन्दका अनुभव करता रहता है। यह आनंद उस आनंदके समान ही है जो योगियोंको अनुभव होता है। यद्यपि अपने ही चित्तका पुनः-पुनः अनुभूत स्थायी-भाव अपने आकारके समान ही अभिन्न है, तथापि काव्य-नैपुण्यसे वह गोचर किया जाता है, आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादिके रहनेपर ही यह रहता है, नाना प्रकारके मीठे-खट्टे पदार्थोंमें बने हुए शरबनकी भाँति यह आस्वादित होता है, मानो सामने परिस्फुटित होता हुआ, हृदयमें प्रवेश करता हुआ, सर्वाङ्गको आलिंगन करता है, अन्यत्वको तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानंदको अनुभव करानेवाला यह रस अलौकिक चमत्कारकारी है—अँसा शास्त्रकारोंका मत है।

जो बात इस प्रसंगमें विशेष रूपसे लक्ष्य करनेकी है वह यह है कि (१) रस व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं; (२) रस निर्वैयक्तिक और अलौकिक होता है; (३) रस आस्वादयिताके बाहर नहीं होता, और अन्हीं बातोंके कारण यदि (४) कोई कवि रसको वाच्य करे या वैयक्तिक आसक्तिका कारण बना दे तो वह कवित्वसे हीन समझा जाना चाहिये।

§३०. यदि हम रसके विभागको ध्यानसे देखें तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि वे मनुष्यके मनोरागोंको आश्रय करके और सुसीके मनोरागोंको अवलंबन करके कल्पित किये गये हैं। पुरुष और स्त्रीमें जो प्रेम है उसको आश्रय करके ही भ्रंगार रस है, परन्तु पुरुषका प्रेम यदि किसी देवतासे हो, प्रकृतिसे हो तो वह कौनसा रस होगा ? पुराने आचार्य अिसे रस नहीं भाव कहते थे। सो देवादि-विषयक प्रेमको 'भाव' नाम दिया गया है। बीचमें एक ऐसा समय गया है जब प्रेमके नामपर केवल पुरुष और स्त्रीके प्रेमका ही चित्रण किया गया है। प्रकृतिको या अुन प्राकृतिक शक्तियोंको जिन्हें देवता कहा गया था, जैसे मेघ, विद्युत्, सुषा, सूर्य, चंद्र आदि—केवल सुदीपनके रूपमें वर्णन किया गया था।

हम आगे देखेंगे (§५०-५१) कि यह प्रवृत्ति अिन दिनों कम हो गयी है और कविलोग प्रकृतिको आलंबन-विभावके रूपमें यथेष्टभावसे देखने लगे हैं। परन्तु रसको मानवीय मनोरागोंपर आश्रित समझनेका एक परिणाम यह हुआ है कि मनुष्यकी प्रकृतिका खूब सुंदर विदलेषण किया गया है। नायक कितने प्रकारके हो सकते हैं, नायिकाओं कितने प्रकारकी हो सकती हैं, अुनकी परिचारिकाओं कितनी तरहकी हो सकती हैं, अिन बातोंका बड़ा विस्तृत विवेचन किया गया है। स्त्रियोंका अुनकी अवस्था, वय, मनोभाव और सामाजिक परिस्थितियोंके आधारपर सूक्ष्म भेद किया गया है। यहीसे सुस विचित्र और शक्तिशाली साहित्यका आरंभ होता है जिस नायिका-भेद कहते हैं।

अिन नायिकाओंके स्वाभाविक और अयत्नसाध्य अलंकारोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। अिस प्रसंगमें लक्ष्य करनेका बात यह है कि यद्यपि स्त्री और पुरुषके स्वाभाविक प्रेमकी व्यंजनामें रसानुभूति होती है, तथापि यह माना गया है कि यदि यह प्रेम ऐसे पुरुष और ऐसी स्त्रीके बीच हो जिनका संबंध सामाजिक मर्यादाके प्रतिकूल हो, या अेकतरफा हो तो 'रस' न होकर रसाभास हो जाता है। पराभी स्त्रीसे जो प्रेम है वह सामाजिक मर्यादाका सुसंघन करता है, सुसके श्रवणमात्रसे सहृदयके चित्तमें विक्षेप होता है और रसानुभूतिमें बाधा पहुँचती है। आचार्योंने पशु-पक्षियोंकी भ्रंगार-चेष्टाओंको

भी रसाभास ही कहा है, क्योंकि पशु-पक्षी आदिके साथ सहृदय अपनेको अभिन्न नहीं समझ पाता। परवर्ती कवियोंने अंसे प्रसंगोंका भी यथेच्छ वर्णन किया है, पर है यह रसाभास ही। इसी प्रकार 'भाव' भी जब अनुचित होता है तो भावाभास कहा जाता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक रस दूसरेका अंग होकर केवल मुख्य रसको अलंकृत करनेके लिये आता है। इस अवस्थामें अंग बना हुआ 'रस' रसके बदले 'रसवत्' कहा जाता है। जैसे कोअी शांकाभिभूत स्त्री अपने मृत पतिके हाथको लेकर कहे कि यही वह हाथ है जिसने अमुक-अमुक शृंगार-चेष्टाओं की थीं तो शृंगार-रस करुण-रसका अलंकरण होकर 'रसवत्' कहा जायगा।

§३१. व्यावहारिक जगत्की भीड़भङ्गके कारण साधारणतः मनुष्यकी संवेदनाओं भाथी हो गयी होती हैं। प्रत्येक वस्तुका ठीक-ठीक बिंब ग्रहण करना सुमके लिये संभव नहीं होता। दुनियाकी अधिकांश बातें साधारणतः सामान्य सत्य द्वारा ही प्रकट की जाती हैं। कवि जब किसी वस्तुको रसास्वादका साधन बनाता है तो उस सामान्य सत्यसे उसका काम नहीं चलता। वह उसको निविडभावसे अनुभव करना चाहता है। भाषाके साधारण प्रयोगोंसे उसका अुद्देश्य सिद्ध नहीं होता। उस हालतमें वह अलंकारोंका आश्रय लेता है। वह शब्दोंमें झंकार पैदा करता है। ध्वनि-साम्यसे श्रोताका मन गलाता है और अपने वक्तव्यकी ओर उसे अुत्सुक बना देता है। इसीको शब्दालंकार कहते हैं। परन्तु केवल शब्दालंकारसे भी कविका अुद्देश्य सिद्ध नहीं होता। शब्दालंकार पाठकको अुत्सुक बनाते हैं और साधारण-सी बातको असाधारणके समान बनाकर अुपस्थित करते हैं। "भौरे जगह-जगह आमकी बौरोंकी ओर लपक रहे हैं" यह अेक मामूली-सी खबर है, लेकिन "ठौर-ठौर झम्पत झपत भौर भौर मधु अंध" में शब्दोंमें जो झंकार है उसने उसे मामूलीसे बड़ा बनाकर श्रोताके सामने रखा है।

§३२. परन्तु कवि जब वक्तव्य वस्तुके किसी गुण-क्रिया या रूपको गाढ़ भावसे अनुभव कराना चाहता है तो वह 'अप्रस्तुत' का विधान करता है। अप्रस्तुत अर्थात् अप्रासंगिक। जो बात प्रासंगिक नहीं होती उसे कौशलपूर्वक

ले आकर कवि अपना बुद्देश्य सिद्ध करता है। 'मुख सुंदर है' अितना कहनेसे मुखकी कोअी विशेषता नहीं मालूम हुअी। सुंदरी अेक सामान्य बात है। सैकड़ों वस्तुओंको हम सुंदर कहा करते हैं। अब मुख कैसा सुंदर है ?— हमारी यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। अिसी विशेषताके अनुभव करानेके लिये कवि कहता है, 'मुख प्रफुल्ल कमलके समान सुन्दर है।' प्रफुल्ल कमलका कोअी प्रसंग नहीं था, प्रस्ताव तो मुखका चल रहा था। अिसीलिये प्रस्तुत (=प्रस्तावित) विषय तो मुख ही है, कमल अप्रस्तुत वस्तु है। वह मुखके विशेषत्वको गाढ़भावसे अनुभव करा देनेके लिये आया है।

साहित्य-शास्त्री अिस बातको अनेकानेक भेद करके समझाते हैं। हम यहाँ अुन सूक्ष्म विचारोंमें नहीं पड़ेंगे। अप्रस्तुतका विधान अर्थालंकारोंमें होता है। अुनमें भी अधिकतर सादृश्य बतानेवाले अर्थालंकारोंमें। जैसे शब्दोंके अलंकार श्रोताको वक्तव्यकी ओर अुत्मुख बनाते हैं, वैसे ही अर्थोंके अलंकार अुस वक्तव्यको गाढ़भावसे अनुभव करनेमें सहायक होते हैं। ये अर्थालंकार नाना प्रकारके हैं। कुछ सादृश्यमूलक हैं, कुछ विरोधमूलक हैं, कुछ शृंखलामूलक हैं, कुछ न्यायमूलक हैं और कुछ गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक हैं। किसी भी अलंकार-ग्रंथमें अुन्हें खोज लिया जा सकता है।

§३३. सबसे मुख्य है सादृश्यमूलक अलंकार। अिनमें कुछ अभिधामूलक हैं, कुछ लक्षणामूलक हैं और कुछ व्यंजनामूलक हैं। अभिधामूलक अलंकारोंमें भेद और अभेद दोनोंकी प्रधानता होती है। जब कहा जाता है कि मुख कमलके समान सुंदर है तो स्पष्ट ही मुख और कमलको भिन्न-भिन्न माना जाता है; यद्यपि सुंदरता दोनोंमें अेक ही है। अर्थात् जहाँतक सुन्दरताका संबंध है दोनोंमें कोअी भेद नहीं है। अिस प्रकार अभिधामूलक अलंकारोंमें भेद और अभेद दोनोंकी प्रधानता होती है। लक्षणामूलक अलंकार अभेद-प्रधान होते हैं। जब कवि कहता है कि मुखकमलसे निःस्वास-सुरभि निकल रही है तो मुख और कमलको अभिन्न मान लेता है। मुख और कमल दो चीजें हैं। अुनमें अभेद लक्षणाद्वारा आता है। व्यंजनामूलक अलंकारोंमें सादृश्य व्यंग्य होता है। जब कहा जाता है कि जो ऋषि अिस बालिकासे तप कराना चाहता

है वह कमलकी पँखड़ीकी धारसे बबूलका पेड़ काटना चाहता है, तो कमलकी पँखड़ी और बालिकामें तथा बबूलके पेड़ और तपमें जो सादृश्य है वह व्यंग्य होता है।

अिस प्रकार अप्रस्तुतका विधान तीन प्रकारका हुआ :— (१) अभिधा-मूलक या भेदाभेद-प्रधान, (२) लक्षणा-मूलक या अभेद-प्रधान और (३) व्यंजना-मूलक या गम्यापगम्याश्रय *। अिन तीनों ही प्रकारके अप्रस्तुत विधानोंसे कवि वक्तव्यके रूप, गुण या क्रियाको गाढ़भावेसे अनुभव कराता है। यदि वह अप्रस्तुत विधान करे भी किन्तु वक्तव्य वस्तुके रूप, गुण या क्रियाको गाढ़भावेसे अनुभव न करा सके तो वह अप्रस्तुत विधान गलत और बेकार होगा।

§३४. भारतवर्षका अलंकार-शास्त्र बहुत सूक्ष्म और गहन है। संसारके किसी देशमें ऐसा सुंदर काव्य-विवेचन नहीं लिखा। हिंदीमें अुम शास्त्रके नाना अंगोंपर अनेक पुस्तकें लिखी गयी हैं; अिमलिये हम यहाँ अुन्हीं तूल नहीं देना चाहते। अपने पाठकोंको यह स्मरण दिला देना चाहते हैं कि यह अेक सावधानीके साथ, अनेक तर्क-युक्तियोंसे परिमार्जित विचार-शास्त्र है। काव्यकी विवेचना करते समय अिसकी मर्यादाका सदा ध्यान रखना चाहिये।

* कुछ मुख्य अलंकारोंका वर्गीकरण अिस प्रकार हो सकता है :—

अर्थालंकार—	१. सादृश्यगर्भ	अनन्वय	(३)
	२. विरोधगर्भ	स्मरण	(४)
	३. शृंखला-मूल	(ख) अभेद-प्रधान—	
	४. न्याय-मूल	(i) आरोप-मूल :—	
	५. गूढार्थ-प्रतीति-मूल	रूपक	(५)
१. सादृश्यगर्भ-अलंकार		संदेह	(६)
(क) भेदाभेद-प्रधान—		अुल्लेख	(७)
	अुपमा	अान्तिमान्	(८)
	अुपमेयोपमा	अपह्नुति	(९)

५. कविता

§३५. अभी हम कविताकी परिभाषा बनानेके फेरमें नहीं पढ़ेंगे । साहित्यका व्याकरण पढ़ते-पढ़ते हमने कविताके बारेमें भी थोड़ा पढ़ लिया है :—

(ii) अध्यवसायमूल	
अुत्प्रेक्षा (१०)	
अतिशयोक्ति (११)	
(ग) गम्यौपगम्याश्रय—	
(i) पदार्थगत :—	
दीपक (१२)	
तुल्ययोगिता (१३)	
(ii) वाक्यार्थगत :—	
दृष्टान्त (१४)	
प्रतिवस्तूपमा (१५)	
निदर्शना (१६)	
(iii) भेदप्रधान :—	
व्यतिरेक (१७)	
सहोक्ति (१८)	
(iv) विशेषण-विच्छित्ति-	
मूलक :—	
समासोक्ति (१९)	
परिकर (२०)	
(v) विशेषण-विशेष्य-	
विच्छित्त्याश्रय :—	
श्लेष (२१)	

२. विरोधगर्भ—

विरोधाभास (२२)
विभावना (२३)
विशेषोक्ति (२४)
विषम (२५)
अधिक (२६)
असंगति (२७)

३. शृंखलामूल—

कारणमाला (२८)
अेकावली (२९)
सार (३०)

४. न्यायमूल—

अर्थान्तरन्यास (३१)
काव्यलिङ्ग (३२)
अप्रस्तुत-प्रशंसा (३३)
अर्थापत्ति (३४)
अुदात्त (३५)
परिवृत्त (३६)

५. गूढार्थ-प्रतीतिमूल—

वक्रोक्ति (३७)
व्याजस्तुति (३८)
भाविक (३९)

पंडितोंने नाना भावसे कविताकी परिभाषा करनेका प्रयत्न किया है। पर ऐसा बराबर हुआ है कि परवर्ती कालके पंडित अन् परिभाषाओंको काटकर नयी परिभाषाओं बनाते रहे हैं। असल बात यह है कि काव्य अनुभव करनेकी चीज है, परिभाषामें उसे बांधना कठिन है। पुराने आचार्योंने गद्य और पद्य दोनोंमें काव्यत्व माना है, किसी-किसीने तो गद्यको ही कवियोंकी कसौटी कहा है। गद्यके विषयमें विचार करनेका अवसर हमें अन्यत्र मिलेगा। यहाँ पद्यवद् काव्यपर ही विचार किया जाय। साधारणतः 'कविता' कहनेसे पद्यवद् रचना ही समझी जाती है। परन्तु, साधारण बातचीतमें भी जब कोअी वक्ता, भावावेग-पूर्वक, शब्दोंमें लालित्य लाकर और सरस बनाकर अद्भुती-अद्भुती बातें करने लगता है तो लोग कहने लगते हैं— 'अब अिनकी कविता शुरू हुअी' या 'कविता रहने दीजिये, कुछ कामकी बात कीजिये।'।

यदि हम ध्यानसे अिन बातोंपर विचार करें तो जल्म पड़ेगा कि भावावेग, कल्पना और पद-लालित्यको कविता कहा जाता है। साधारण बातचीतमें यह भी प्रकट होता है कि कविता कामकी चीज नहीं है, वह केवल कल्पनाका विलास है! यह बात ज्यों-की-त्यों नहीं मानी जा सकती, क्योंकि साधारण बुद्धिके आदमी जिसे कामकी चीज कहते हैं उसकी सीमा बहुत संकीर्ण होती है। पर अितना सत्य है कि कविताका क्षेत्र वहाँसे आरम्भ होता है जहाँ दुनियावी प्रयोजनकी सीमा समाप्त हो जाती है। अिसका मतलब यह नहीं कि कविता निष्प्रयोजन वस्तु है। अिसका मतलब सिर्फ यह है कि कविता अिस आनंदका प्रकाश है जो प्रयोजनकी संकीर्ण सीमाके अतिरिक्त होता है। वह प्रयोजनको छोड़कर नहीं रह सकता पर प्रयोजनके अतिरिक्त है।

लोकमें प्रसिद्ध है कि 'घीका लड्डू टेढ़ाभी भला होता है', क्योंकि जहाँतक लड्डूका प्रयोजन है— अर्थात् अुसकी मिठास, अुसके पेट भरनेवाले गुण अित्यादिका संबंध है— वहाँतक अुसके गोल या अन्य सुंदर आकारमें ढलनेकी कोअी जरूरत नहीं। प्रयोजन टेढ़ेसे भी सिद्ध हो जाता है, फिर भी हलबाअी अुसे गोल और सुंदर बनानेका प्रयत्न करता है। यह बात प्रयोजनके अतिरिक्त है, यहाँ वह कला और आनंदके क्षेत्रमें आता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या

आनंद या सौन्दर्यानुभूतिका मनुष्यको कोअी प्रयोजन ही नहीं है, क्या ये बेकार बातें हैं ?— दर्गिज नहीं । आनंद भी प्रयोजनीय है । पर जैसा कि मैंने शुरूमें ही कहा है साधारण बुद्धिके आदमी प्रयोजनका अर्थ बहुत संकीर्ण समझते हैं । यहाँ हम साधारण लोकविश्वासकी चर्चा कर रहे हैं । ये बातें कविताकी परिभाषा नहीं हैं, अनिसे केवल अितना ही समझा जा सकता है कि साधारण बुद्धिके आदमियोंमें 'कविता' शब्दका क्या अर्थ समझा जाता है । परन्तु चूंकि साधारण जनताका विश्वास किसी न किसी सचाईपर आश्रित होता है इसलिये इस विश्वासके सहारे हम कविताके मूल रूपका आभास पानेका भी प्रयत्न कर रहे हैं । सो, कविताका लोक-प्रचलित अर्थ वह वाक्य है जिसमें भावावेग हो, कल्पना हो, पद-लाळिल्य हो और प्रयोजनकी सामा समाप्त हो चुकी हो ।

§३६. हमारे इस देशका इतिहास बहुत पुराना है । न जाने किस अनादि कालसे हमारे पूर्वज अनि विषयोंकी चर्चा करते रहे हैं । अन्होंने काव्यको समझानेके अनेक रास्ते सुझाये हैं । परन्तु जैसे-जैसे समाजमें नये-नये अुपादान आते गये वैसे-वैसे उनकी परिभाषाओं बदलती गयीं, क्योंकि नये नये अुपादानोंके साथ मनुष्यकी कल्पना और भाव-प्रवणता भी नया-नया रूप धारण करती गयी । जिन विद्वानोंने इस देशके साहित्यका अध्ययन किया है उनमेंसे कअी लोगोंका अनुमान है कि शुद्ध-शुरूमें नाटकके प्रसंगमें ही रसकी चर्चा होती थी । अर्थात् 'रसकी' अुपयोगिता नाटकके क्षेत्रमें ही स्वीकार की जाती थी, काव्यमें अलंकारोंका होना परम आवश्यक समझा जाता था । इस मतको सर्वाशमें सत्य नहीं माना जा सकता तो भी अितना सही है कि काव्यमें चमत्कारको बड़ी चीज माना जाता था ।

मैंने अपनी दूसरी पुस्तकमें इस विषयकी विस्तृत आलोचना की है । यहाँ अितनाही प्रसंग है कि काव्यमें अुत्तम अुक्तियों और अलंकारोंका होना आवश्यक माना जाता था । परन्तु शीघ्र ही आचार्योंने इस मतमें सुधार किया । वे कहने लगे कि शब्द और अर्थकी परस्परस्पर्द्धा चारुताके साहित्य (अर्थात् सम्मिलित भाव) को काव्य कहते हैं । फिर ध्वनिका संप्रदाय प्रबल हुआ । ध्वनिको ही काव्यका आत्मा बताया गया । मम्मट नामके प्रसिद्ध ध्वनिवादी

आचार्यने और भी आगे बढ़कर कहा कि वे ही शब्द और अर्थ काव्य हो सकते हैं जो दोष-रहित हों, गुणयुक्त हों और कुछ अलंकार हों या न हों कोई बात नहीं। अब, गुण रसके अन्वर्ष-विधायक होते हैं सो, काव्यमें गुणका होना आवश्यक मानकर मम्मटने वस्तुतः रसको आवश्यक बताया। सो, ध्वनिको काव्यका आत्मा मानकर भी शुन्धोंने वस्तुतः रसको ही उसका आत्मा कहा। इसी बातको विश्वनाथ नामके आचार्यने यों कहा कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। सो, धीरे-धीरे इस देशमें रसको ही काव्यका प्रधान वस्तु मान लिया गया।

यह रस मुँहसे कहकर नहीं प्रकट किया जाता बल्कि नाना भावसे छंदके संयोगसे, अलंकारकी सहायतासे, व्याकरणके भीतरसे, और इसी प्रकारके नाना अिशारोंसे—ध्वनित किया जाता है। किसी लड़कीने यदि यह कह दिया कि 'मेरा प्रिय इस ओर आया है इसलिये मैं बहुत खुश हूँ।' तो यह एक व्यक्तिगत संवाद मात्र है और सो भी अितना मामूली कि कोई मामूलीसे मामूली अखबार भी इस नहीं छापना चाहेगा। परन्तु यदि उसने कहा—

‘नाचि अचानक हूँ अठे विनु पावस बन मोर।

जानति हों नंदित बरी यहि दिसि नंद किशोर॥’

तो यह एक अत्युत्तम कविता हो जायगी। क्योंकि उपमाके भीतरसे, लक्षणाके भीतरसे और समस्त पद-योजनाके भीतरसे इसमें एक ऐसा रस ध्वनित हुआ है, जो किसी अलंकारका व्यक्तिगत प्रेम न होकर समस्त मानव-जातिके मनोरागको प्रकट करता है।

§३७. कविता क्या है, यह समझनेके पहले, कविता क्या नहीं है, यह समझ लेना ज़्यादा अच्छा है, क्योंकि उस हालतमें हम कविताके लक्षणको आसानीसे परीक्षाकी कसौटी पर कस सकते हैं। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि कविता कहते ही हमारे मनमें सबसे पहली बात यह आती है कि वह पद्य है। परन्तु पद्यमें ऐसी बहुत-सी बातें हो सकती हैं जो किसी प्रकार कविता नहीं कही जा सकती। पद्यमें ज्योतिष और वैद्यककी पुस्तकें भी लिखी गयी हैं, परन्तु शुन्धें कोई कविता नहीं कहता। पद्यमें लिखे जाने मात्रसे कोई

चीज कविता नहीं हो सकती। बहुतसे शास्त्र ऐसे हैं जो कविता नहीं हैं परन्तु वे जीवनको समझनेके सुत्तम साधन हैं। विज्ञान काव्य नहीं है, दर्शन भी काव्य नहीं है, अतिहास काव्य नहीं है और पुराण भी काव्य नहीं है। काव्यकी अधिकांश व्याख्याओं अिस शास्त्रोंके आधार पर की गयी हैं, परन्तु ये सभी शास्त्र अकेले-अकेले और मिलकर भी कविता या काव्य नहीं कह जा सकते।

(१) विज्ञान तथ्यकी जानकारीपर आश्रित होता है। वैज्ञानिकका काम यह है कि वह वस्तुओंको सुस रूपमें ढी अध्ययन करे जिस रूपमें वे हैं। वह सुन वस्तुओंका विश्लेषण करता है, परीक्षा करता है और अन्तमें नाना वस्तुओंके विश्लेषण और परीक्षणके बाद सुनके सामान्य धर्मोंका पता लगता है। अिस प्रकार विज्ञान तथ्योंके भीतरसे सुनके सामान्य धर्मोंका पता लगाता है, फिर सुन सामान्य धर्मोंमें भी सामान्यता खोजता है— अिस प्रकार वह जागतिक प्रपंचके भीतरसे अेक सामान्य सत्य या 'अैक्य' को खोज निकालता है। अिस प्रकार विज्ञान भौतिक जगत्के कारण, कार्य और सामान्य धर्मके अध्ययनके द्वारा अिस जगत्की अेक युक्तिसंगत और बुद्धिगम्य व्याख्या सुपस्थित करता है। काव्य अैसा नहीं करता। वह कार्य-कारण-परंपराकी खोजमें सिर नहीं खपाता, और फिर भी अिस जगत्के अन्तर्निहित सत्यको सुससे समझा जा सकता है। विज्ञान काव्य नहीं है।

(२) दर्शन भी काव्य नहीं है, क्योंकि दर्शनका प्रधान सुत्स है संदेह। दार्शनिक जगत्की प्रत्येक वस्तुको जैसा है वैसाही नहीं मानता। वह प्रत्येक वस्तुको संदेहकी दृष्टिसे देखता है। जो कुछ दिख रहा है सुसके पीछे कोअी और रहस्य है, जैसा कुछ दिख रहा है वही चरम सत्य नहीं है, अिस पदेके पीछे कोअी और व्यापार है। सुस बातको दार्शनिक अपनी सहज बुद्धिसे समझता है, विज्ञान सुसका साधन हो सकता है, परन्तु वह विज्ञानको ज्यों-का-त्यों नहीं मान लेता। वैज्ञानिक और दार्शनिक निरीक्षा-पद्धतियोंमें विशेष अन्तर यह है कि वैज्ञानिक कुछ भी पहलेसे नहीं मान लेता। वस्तुओंका स्वभाव-अध्ययन करते-करते वह सामान्य सत्य तक पहुँचनेका प्रयास करता है। जहाँ वह अपने अध्ययनमें बाधा पाता है वहाँ रुक जाता है और स्पष्ट रूपसे घोषणा करता है कि अब अिसके आगे विज्ञानकी गति बाधित है। दार्शनिक कहीं नहीं रुकता, सुसको अपनी सहज-

बुद्धिसे निर्णीत सत्यही मार्ग दिखाता है। जहाँ विज्ञानकी सहायता खुसे नहीं मिलती वहाँ वह अपनी तर्कबुद्धिसे अग्रसर होता है। लेकिन काव्य ऐसा नहीं करता। इसलिये दर्शन भी काव्य नहीं है।

(३) इसी तरह अतिहास भी काव्य नहीं है। खुसका कार्य भी तथ्योंकी दुनिया है। वह अपने अस्तित्वके लिये पद-पद पर बाह्य प्रमाणोंका आश्रय चाहता है। अतिहास उन तथ्यमूलक घटनाओंकी व्याख्या है जो कालके भीतरसे मानव-जीवनके संबंधमें अग्रसर होती रही हैं। काव्यमें ऐतिहासिक व्यक्तियोंकी चर्चा हो सकती है, परन्तु वे सब समय तथ्यकीही अपज होंगी ऐसा नहीं कह सकते।

(४) पुराण मनुष्यकी उन कल्पनाओंका जातीय रूप है जो जगत्के व्यापारोंको समझनेमें बुद्धिके कुंठित होनेपर बुद्धभूत हुआ थी और दीर्घकालतक जातीय चिन्ताके रूपमें संचित होकर विश्वासका रूप धारण कर गयी हैं। काव्य की कल्पना कल्पनाही रहती है, वह सत्यको ग्रहण करनेमें सहायक होती है। कल्पनाने जहाँ विश्वासका रूप धारण किया वहाँ वह पुराण हो गयी, काव्य नहीं रही। काव्यकी कल्पना सदा सत्यको गाढ़ भावसे अनुभव करानेका साधन बनी रहती है, स्वयं सत्यको आच्छादित करके प्रमुख स्थान नहीं अधिकार कर लेती है। सो, काव्य पुराणसे भिन्न वस्तु है।

§३८. कुछ लोगोंने कविताको जगत्के व्यापारोंको अभिव्यक्त करनेका साधन बताया है। यह ग़लत बात है। कवि जो कुछ संसारमें घटता हुआ देखता है खुसकी रिपोर्ट नहीं लिखा करता और जैसा कि कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने कहा है, “कविताका विषय कुछ भी क्यों न हो, यहाँ तक कि वह कोअी दैनिक तुच्छ व्यापार भी हो, तो भी खुस विषयको ही शब्द-चित्रमें नक़ल करके व्यक्त करना खुसका बुद्धेय कदापि नहीं है। विद्यापतिने लिखा है :

जब गोधूलि समय बेलि

धनि मन्दिर बाहिर भेलि

नव जलधरे बिजुरि-रेहा द्वंद्व पसारि गेलि ।

सायंकाल गोधूलि-बेलामें पूजा समाप्त करके बालिका मन्दिरसे निकलकर घरको

लौटती है— हमारे देशके सांसारिक काज-कर्ममें यह घटना नित्य ही घटती रहती है। यह कविता क्या शब्द-रचना द्वारा सुसीकी पुनरावृत्ति है? जीवन-व्यापारमें जो बातें घटा करती हैं; सुन्दरोंको व्यवहारको जयाबंदीसे मुक्त करके कल्पना-द्वारा सुभोग करना ही क्या इस कविताका लक्ष्य है? मैं यह बात कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। वस्तुतः बालिका मन्दिरसे निकलकर घरको चली है, यह विषय इस कविताकी प्रधान प्रतिपाद्य वस्तु नहीं है। इस विषयको केवल सुपलक्ष्य करके छन्दसे, पद-संघटनासे, वाक्य-विन्याससे, सुपमा-संयोगसे जो एक समग्र वस्तु तैयार हुआ है, वही असली चीज़ है। वह वस्तु मूल विषयके अतीत है, वह अनिर्वचनीय है।” रवीन्द्रनाथके अपर्युक्त सुधरगसे जो बात अत्यन्त स्पष्ट हुई है वह यह है कि कविताके आपाततः दिखनेवाले शब्द या अर्थ बड़ी बात नहीं हैं, उनको सुपलक्ष्य करके कवि किसी अखण्ड या समग्र वस्तुको ध्वनित करता है। पुरान आचार्योंकी भाषामें कहना होता तो हम कहते कि अभिधा या लक्षणा द्वारा जो अर्थ प्राप्त होता है वह कविताकी बड़ी बात नहीं है। शब्दसे, अर्थसे, पद-विन्याससे, छंदसे, अलंकारसे एक अनिर्वचनीय रस-वस्तु व्यंग्य होता है। रसध्वनि ही काव्यका प्राण है।

§३९. कविके विषयमें नाना प्रकारकी लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं, जिनसे मालूम होता है कि कवि कोआँ असाधारण मनुष्य होता है। निरसंदेह वह सौ-पचास मामूली आदमियोंसे भिन्न होता है; परन्तु इस विषयमें किसीको कोआँ शंका नहीं है कि कवि है इस दुनियाका ही जीव। वह जिन वस्तुओंसे अपना काव्य रचता है वह भी इस दुनियाकी ही होती हैं, फिर भी हम उसमें ‘अलौकिक रस’ का साक्षात्कार करते हैं। वस्तुतः अलौकिक शब्दका व्यवहार हम इसलिये नहीं करते कि वह इस लोकमें न पाओँजानेवाली किसी वस्तुका द्योतक है बल्कि इसलिये करते हैं कि लोकमें जो एक नयी-तुली सचाओँकी पैमाशिश है उससे काव्यगत आनन्दको नहीं नापा जा सकता। बाबू श्यामसुंदर-दासने इसीलिये कहा है कि “काव्यके सत्यसे हमारा अभिप्राय है कि काव्यमें सुन्दर बातोंका वर्णन नहीं होना चाहिये, और न होता ही है, जो वास्तवमें सत्यताकी कसौटीपर कसा जा सकता है, पर उनका भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती हैं।”

§४०. और हम बराबर तथ्य और सत्य ही बात करते रहे हैं। दोनोंमें क्या अन्तर है, यह समझ लिया जाय। “हमारा मन जिस ज्ञान-राज्यमें विचरण कर रहा है वह दोमुँहा पदार्थ है। उसकी एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर सत्य। जैसा है वैसे ही भावका तथ्य कहते हैं और वह तथ्य जिसे आश्रय करके टिका है वह सत्य है। मुझमें जो ‘मैं’ बँधा हुआ है वही मेरा व्यक्तिरूप है। यह तथ्य अंधकारका वाशिदा है, वह अपनेको स्वयं प्रकाश नहीं कर सकता। जभी इसका परिचय पूछा जायगा तभी वह (परिचय) एक ऐसे बड़े सत्यके द्वारा दिया जायगा जिसे आश्रय करके वह टिका हुआ है। अुदाहरणार्थ, कहना होगा मैं हिन्दुस्तानी हूँ। लेकिन हिन्दुस्तानी है क्या चीज़? वह तो एक अविच्छिन्न पदार्थ है, जो न लुआ जा सकता है, न पकड़ा जा सकता है। तथापि उस व्यापक सत्यके द्वारा ही उसका परिचय दिया जा सकता है। तथ्य खंडित और स्वतंत्र है, सत्यके भीतर ही वह अपने बृहत् अंक्यको प्रकाशित करता है। मैं व्यक्तिगत ‘मैं’ हूँ जिस छोटेसे तथ्यके भीतर ‘मैं मनुष्य हूँ,’ जिस सत्यको जब मैं प्रकाश करता हूँ तभी उस विराट् अंकके आलोकसे नित्यताके भीतर मैं अुद्भासित होता हूँ। तथ्यके सत्यका प्रकाश ही प्रकाश है। चूँकि साहित्य और कलित-कलाका काम ही प्रकाश करना है, जिसलिये तथ्यके पात्रको आश्रय करके हमारे मनको सत्यका स्वाद देना ही उसका काम है। यह स्वाद अंकका है, असीमका है। मैं ‘व्यक्तिगत मैं हूँ’ यह मेरी सीमाकी ओरकी बात है, यहाँ मैं व्यापक ‘अंक’ से विच्छिन्न हूँ। किन्तु ‘मैं मनुष्य हूँ’ यह मेरे असीमकी ओरकी बात है। यहाँ मैं विराट् ‘अंक’ के साथ युक्त होकर प्रकाशमान हूँ।

“गोधूलिकालमें एक बालिका मंदिरसे निकल आयी, यह तथ्य हमारे लिये बहुत मामूली बात है। महज जिस संवादके सहारे ही यह चित्र हमारे सामने स्पष्ट नहीं हो जाता। हम मानो सुनकर भी नहीं सुनते, किसी चिरन्तन ‘अंक’ के रूपमें वह वस्तु हमारे भीतर स्थान नहीं पाती। यदि कोभी—‘मान-नमान मैं-तेरा-मेहमान’—भला आदमी हमारा ध्यान खींचनेके लिये फिरसे जिस खबरको सुनाने लगे तो हम खीझकर कहेंगे—‘बालिका अगर मंदिरसे बाहर निकल आयी तो हमारा क्या?, अर्थात् हम अपने साथ उसका कोअी संबंध अनुभव नहीं कर रहे हैं, जिसलिये यह घटना हमारे लिये सत्य ही नहीं है।

किन्तु ज्यों ही छंद, स्वर और अुपमाके योगसे यह मामूली बात सौंदर्यके अेक अखण्ड अैक्यके रूपमें परिपूर्ण होकर प्रकट हुअी, ल्यों ही यह प्रदंन शान्त हो गया कि 'अिससे हमारा क्या ?' क्योंकि जब हम सत्यका पूर्णरूप देखते हैं तब अुसके द्वारा व्यक्तिगत संबंधके द्वारा आकृष्ट नहीं होते, सत्यगत संम्बंधके द्वारा आकृष्ट होते हैं ।

“गोधूलिके समय बालिका मंदिरसे निकल आअी, अिस बातको तथ्यके द्वारा यदि पूरा करना होता तो शायद और भी बातें कहबी पड़तीं । आसपासकी अनेक खबरें अिसमें और जोड़ी जानेसे रह गअी हैं । कवि शायद कह सकता था कि वह मनही मन मिठाअीकी बात सोच रही थी । बहुत संभव, अुप्त समय यही चिन्ता बालिकाके मनमें सबसे अधिक प्रबल थी । किन्तु तथ्य जुटाना कविका काम नहीं है । अिसीलिये जो बातें बहुतही जरूरी और बड़ी हैं वही कहनेसे रह गअी हैं । यह तथ्यका बोझा जो कम हो गया है अिसीलिये संगीतके बंधनमें यह छोटी-सी बात अिस तरह अेकत्वके रूपमें परिपूर्ण हो गअी है । और कविता अितनी सुंदर और अखण्ड होकर प्रकट हुअी है । पाठकका मन अिस सामान्य तथ्यके भीतरी सत्यको अिस गहराअीके साथ अनुभव कर सका है । अिस सत्यके अैक्यको अनुभव करके ही हम आनन्द पाते हैं ।” —(रवीन्द्रनाथ) ।

अुपरका अुद्धरण जरा लम्बा हो गया है । परन्तु अुसमें काव्यगत सत्यको जिस आसानीसे समझाया गया है वह दुर्लभ है । अिसलिये लम्बा अुद्धरण हमारे बहुत कामकी चीज़ साबित होगा । दुनियामें ज्ञान दो श्रेणीका है । (१) तथ्यगत और (२) सत्यगत । अुपर तथ्य और सत्यके भेदको बहुत अच्छी तरहसे समझाया गया है । जिस बातको हम विशेष रूपसे यहाँ लक्ष्य करना चाहते हैं वह यह है कि अखण्ड अैक्यको आश्रय करके ही सत्य प्रकाशित होता है । जो बात हमें खंडित और विच्छिन्न तथ्योंका अनुभव कराती है वह काव्य नहीं हो सकती ।

§४१. अिस प्रकार कवि यद्यपि दुनियाकी साधारण वस्तुओंको ही अुपादानके रूपमें व्यवहार करता है परन्तु अुसका अर्थ असाधारण होता है ।

पुराने पंडितोंने कहा है कि यदि कविके प्रयोग किये हुअे शब्द खुसके साधारण प्रचलित (कोश-व्याकरण-सम्मत) अर्थको बताकर ही रह जाते हैं तो वह कविता शुत्तम कोटिकी नहीं मानी जा सकती । जब छन्द, अलंकार, पद-संघटना आदिके योगसे कवि पाठकके चित्तको सत्त्व गुणमें स्थिर कर देता है (दे० § २९) — अर्थात् खुसे दुनियाकी संकीर्णताओंसे ऊपर खुठा ले जाता है, वह 'मैं' और 'मेरे' के संकीर्ण घेरेसे बाहर निकल आता है, तभी खुसे रसका अनुभव होता है । इसीलिये यह रस अलौकिक कहा जाता है । अब, जो छन्द, अलंकार और पद-संघटना इस रसका साक्षात्कार कराते हैं वे निश्चय ही काव्यके महत्त्वपूर्ण अस्त्र हैं । इन्हें काव्यमेंसे हटाया नहीं जा सकता । परन्तु अितना अवश्य याद रखनेकी बात है कि ये सभी साधन हैं; साध्य नहीं ।

यदि कवि इन्हींको सब कुछ समझ ले और ऐसी कविता लिखने बैठ जाय जिसमें काव्यगत सत्यकी तो कोअी परवा ही न की गयी हो और केवल छन्द, अलंकार और पद-लालित्यको ही बढ़ा करके दिखानेकी चेष्टा की गयी हो तो खुसकी कविता शुत्तम नहीं मानी जायगी । अनाड़ी आदमीके हाथमें अच्छे अस्त्र दे दिअे जायँ तो वह अनर्थ कर बैठेगा । अलंकार, छन्द आदि भी बड़े प्रभावशाली अस्त्र हैं,—किसीने विहारीके दोहोंको 'नाविकके तीर' कहा था ।— शुत्तम कवि इन अस्त्रोंका प्रयोग जानता है अनाड़ी तो केवल भावों और रसोंकी इत्याके लिये ही इसका उपयोग करता है । हिंदी-साहित्यके अतिहासमें अेक ऐसा युग बीता है जिसमें इन अलंकारों, छन्दों और अन्यान्य बाह्य साधनोंका जमकर उपयोग किया गया है । इन दिनों बड़े-बड़े शुत्तम कवि हुअे थे, जिन्होंने इनसे कमालकी रस-सृष्टि की है और अैसे अनाड़ी कवि भी कम नहीं हुअे, जिन्होंने जबरदस्ती अलंकारोंकी पल्टन सजाकर रसके शान्त राज्यमें अुत्पात मचा दिया था ।

४२. जैसा कि ऊपर बताया गया है, कवि इस दुनियाकी मामूली चीजोंसे ही अपना कारबार चलाता है । इसलिये कवि इन मामूली चीजोंको ठीक-ठीक पकचामे बिना अपना काम नहीं चला सकता । अच्छा शिल्पी जानता है कि कौन-सा पत्थरका टुकड़ा किस जगह बैठाया जाकर सौन्दर्यको सौगुना

निखार देगा। और उत्तम कवि भी जानता है कि कौन-सा शब्द या अर्थ या कौन-सी वस्तु या वस्तुधर्म किस प्रकार प्रयुक्त होकर श्रोताको उपयुक्त रस-ग्रहण करानेमें सहायता कर सकता है। जिस प्रकार मामूली अंठ-पत्थरके टुकड़ोंसे स्थपति उत्तम महल बना देता है, उसी प्रकार मामूली शब्दों और भावोंकी सहायतासे कवि अलौकिक रसकी सृष्टि करता है। अिसीलिये दुनियाकी अत्यन्त मामूली बातोंकी जानकारी भी कविका आवश्यक गुण है। लेकिन सिर्फ जानना ही काफी नहीं है। जानते तो बहुत-से लोग हैं परन्तु उसको ठाक-ठीक अनुभव भी करा देना कविका ही काम है।

§४३. (१) कवि जिस किसी वस्तुका वर्णन करने क्यों न जाय उसका प्रथम कर्तव्य है “बिंब-ग्रहण” कराना। ‘बिंब-ग्रहण’ आचार्य रामचंद्र शुक्लका चलाया हुआ शब्द है। जिस वक्तव्यसे किसी वस्तुका संकेतित अर्थमात्र ग्रहण न होकर उसका पूरा चित्र उपस्थित हो वही वक्तव्य बिंब-ग्रहण करानेमें समर्थ कहा जा सकता है। शुक्लजी अिसे भी अभिधा शक्तिका ही कार्य मानते थे। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि नाना प्रकार के सादृश्यमूलक अलंकारोंकी सहायतासे कवि पाठकको वक्तव्य वस्तुके गुण, क्रिया, या धर्मको गाढ़ भावसे अनुभव कराता है। परन्तु यह भी अेक साधनमात्र है। कविका वास्तविक कर्तव्य तो ‘अेक’ का अनुभव कराना ही है। बिंब-ग्रहण वस्तुतः तथ्य ही है (दे० §४०) सत्य नहीं। सादृश्यमूलक अलंकार जिस वस्तुके गुण या धर्मको गाढ़ भावसे अनुभव कराते हैं वे भी तथ्य ही हैं। यही कारण है कि केवल अलंकारोंकी प्रधानतावाले काव्यको आचार्योंने ‘अवर’ या निचले कोटिका ही काव्य माना है।

(२) जिस प्रकार अप्रस्तुत विधानके द्वारा कवि वक्तव्य वस्तुका बिंब-ग्रहण और गाढ़ अनुभव कराता है, उसी प्रकार छन्द उसे गतिशील बनाते हैं तथा उसके द्वारा पाठकके चित्तको संकीर्ण सीमाके बंधनसे मुक्त करते हैं। कवि-वर सुमित्रानंदन पन्तने कहा है कि “जिस प्रकार नदीके तट अपने बंधनसे धाराकी गतिको सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बंधनहीनतामें धाराका प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रणसे रागको स्पंदन, कंपन तथा वेग प्रदान करके निर्जीव शब्दोंके रोड़ोंमें अेक कोमल सजल

कलरव भर करके खुन्हें सजीव बना देते हैं।” वस्तुतः भाषाके प्रवाहधर्मका नाम ही छन्द है। वाणभट्टकी कादम्बरी गद्यमें लिखी गयी है, किन्तु उसमें अपना एक विशेष प्रवाह है जो नित्य प्रति व्यवहारमें आनेवाले गद्यमें नहीं पाया जाता। आयुर्वेद और ज्योतिषकी बहुत-सी पुस्तकें पद्यमें लिखी गयी हैं पर उनमें वह प्रवाह नहीं है जो काव्यमें अत्यन्त आवश्यक रूपमें वर्तमान रहता है। छन्दोंकी पुस्तकों में जो लक्षण दिये हुए हैं उनके पालनमात्रसे पद्य काव्यमय नहीं हो जाते। पद्यमें जबतक प्रवाह न हो तबतक वह काव्यका आवश्यक साधन नहीं बन सकता। प्रवाहशील गद्यमें भी एक प्रकारका छन्दोधर्म वर्तमान रहता है। उस धर्मके रहनेसे ही गद्य गद्य-काव्य होता है। अतः यह समझना भूल है कि ‘छन्दोधर्म’ अर्थात् प्रवाह और गतिके बिना भी काव्यत्व संभव है।

(३) यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकार छन्दमें झंकार भरते हैं। इसीलिये वे छन्दके सहायक हैं। कवि छन्द और शब्दालंकारके सहारे अपने अभीष्टतक पहुँचता है। इसीलिये अन्त्यानुप्रास या तुक कविताका एक महत्त्वपूर्ण अंश माना गया है। यद्यपि तुकका न होना कोई दोष नहीं है पर उसका होना गुण अवश्य है।

§४४. दो बातें कवितामें प्रधान रूपसे विद्यमान पायी जाती हैं। प्रथम यह कि कवि कुछ कहना चाहता है, और दूसरा यह कि उस बातको कहनेके लिये वह किसी रचना-कौशलका व्यवहार करता है। पहलेको भाव-पक्ष कहा गया है और दूसरेको कला-पक्ष। हम अबतक कला-पक्षका ही विवेचन करते रहे। अब भाव-पक्ष पर आया जाय।

§४५. काव्यको मोटे तौरपर दो विभागोंमें बाँट लिया गया है—(१) विषय-प्रधान और विषयि-प्रधान। प्रथममें कवि बहिर्जगत्में अपनेको लीन करके अपने बाहर रहनेवाली वस्तु (विषय) में सौन्दर्यका साक्षात्कार करता है, और दूसरेमें वह अपनी ही सुख-दुःखात्मक अनुभूतियोंको प्रकट करता है। चूँकि वह अपनेको (विषयीको) ही प्रकट करता है, इसलिये उसे काव्यको विषयि-प्रधान काव्य कहा जाता है। महाकाव्य, ऐतिहासिक चरित्र, उपन्यास आदि

विषय-प्रधान होते हैं। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने एक और ढंगसे काव्यको दो भागोंमें विभक्त करके सोचा है :—

(१) अकेले वह जिसमें अकेले कविकी बात रहती है।

(२) दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदायकी बात रहती है।

अकेले कविकी बात कहनेका यह मतलब नहीं कि वह बात ऐसी है जो दूसरोंकी समझमें नहीं आ सकती। ऐसा होनेसे तो वह पागलपन कहा जायगा। और फिर जो बात किसी व्यक्तिकी समझके संकीर्ण दायरेमें ही बद्ध है वह हमारी सामान्य मनुष्यताको किस प्रकार प्रभावित कर सकेगी और अखण्ड ऐक्यका अनुभव किस प्रकार करा सकेगी? अकेले कविकी बातका तात्पर्य यह है कि कविके भीतर अिस प्रकारका सामर्थ्य है कि वह अपने सुख-दुःख, कल्पना और अभिज्ञताके भीतरसे विश्व-मानवके चिरन्तन हृदयावेग और जीवनकी मर्म व्यथाको अनायास ही प्रतिध्वनित कर सकता है। अैसे सामर्थ्य को कवि गीतिकाव्यका आश्रय लेकर प्रकाशित करता है। जिस प्रकार 'वीणाका' अेक तार आहत होकर अन्य सभी तारोंमें अेक प्रकारका अनुरणन पैदा करता है, अुसी प्रकार कविका आहत हृदय सहृदय-मात्रको अंकृत कर देता है।

§४६. दूसरी श्रेणीके कवि वे हैं जिनकी रचनासे अेक समूचा देश और समूचा काल अपने हृदयको और अपनी अभिज्ञताको व्यक्त करके अुस रचनाको शाश्वत समादरणीय सामग्री बना देता है। अैसे कविको महाकवि कहते हैं और अुसके काव्यको महाकाव्य। रामायण और महाभारत हमारे देशके महाकाव्य हैं। शताब्दियोंतक कविलोग अिन महाकाव्योंको अवलंब करके काव्य लिखते आये हैं, अब भी लिख रहे हैं और आगे भी लिखते रहेंगे। पर अिनका सौंदर्य अभी जैसे का तैसा है। रामायणके राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, कौशल्या, कैकेयी, रावण, हनुमान् आदि चरित्र महान हैं। वे कविकी भावावेश अवस्थाके कल्पित पात्र नहीं हैं, बल्कि समूची जातिकी युगव्यापी साधनाके परिणाम हैं। अिस काव्यको पढ़नेपर पीढ़ियोंका रचित भारतवर्ष प्रत्यक्ष हो जाता है। अिसी प्रकार महाभारतको अुज्ज्वल चरित्रोंका वन कहा जा सकता है। यह कवि-रूपी मालीका यत्नपूर्वक सँवारा हुआ अुद्द्यान नहीं है जिसके प्रत्येक लता, पुष्प-वृक्ष अपने

सौंदर्यके लिये बाहरी सहायताकी अपेक्षा रखते हैं, बल्कि वह अपने आपकी जीवनी शक्तसे परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओंका अत्यन्त-परिवर्धित विशाल वन है जो अपनी सुपमा आपसी है ।

महाभारतका कोअी भी चरित्र शायद ही महलोंके भीतर पलकर चमक हो । सब-के-सब अेक तूफ़ानके भीतरसे ढोकर गुजरे हैं । अपना रास्ता अुन्होंने स्वयं बनाया है और अपनी रची हुआी विपत्तिकी चितामें वे हँसते-हँसते कूद गये हैं । अस महाकाव्यका अदना-से-अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता । किसीके चेहरेपर कभी शिकन नहीं पड़ने पाती । पाठक पढ़ते समय अेक जादूभरे वीरत्वके अरण्यमें प्रवेश करता है, जहाँ पद-पदपर विपत्ति तो है पर भय नहीं है; जहाँ जीवनकी चेष्टाअें बार-बार असफलताकी चट्टानसे टकराकर चूरचूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करनेवाला हतोत्साह नहीं होता; जहाँ गलती करनेवाला अपनी गलती-पर गर्व करता है, प्रेम करनेवाला अपने प्रेमपर अभिमान करता है और घृणा करनेवाला अपनी घृणाका खुलकर प्रदर्शन करता है । प्राचीन भारत अपने समस्त गुण-दोषोंके साथ महाभारतमें मूर्तिमान् हो अुठा है ।

§४७. परन्तु अस युगमें विषयि-प्रधान कविताका प्रचार ही अधिक हो गया है । वर्तमान हिन्दी-साहित्यमें भिम श्रेणीकी कविताका बहुत प्रचार है । तीन बातें अिन दिनों प्रधान रूपसे दृष्टिगोचर हो रही हैं— कल्पना, अनुभूति और चिन्तन ।

(१) कल्पनाकी अवस्थामें अस युगका कवि वर्तमान जगतकी अननुकूल और विसदृश परिस्थितियोंसे अूबकर अेक अनुकूल और मनोरम जगतकी सृष्टि करता है । अेक युग अैसा बीता है जब संसारके साहित्यमें कल्पनाका अखण्ड राज्य रहा है । कवि अस दुनियाके समानान्तर धरातलपर ही अेक अैसी दुनियाकी सृष्टि करता था, जहाँ प्रेमी और प्रेमिकाअें तो हमारे ही जैसी होती थीं; पर वहाँके कायदे-कानून अलग ढंगके होते थे और स्वच्छन्द प्रेममें जो सहस्रों बाधाअें अस जगतमें अपने-आप खड़ी हो जाती हैं वे वहाँ नहीं होती थीं ।

(२) परन्तु जब कवि चिन्ताकी अवस्थामें पहुँचता है तो वह प्रायः कल्पनाकी अवस्था आयत्त कर चुका होता है । अिसीलिमे वह किसी चीजको

शुद्ध मनीषीकी भाँति न देखकर उसपर कल्पनाका आवरण डालकर देखता है। दिगन्तके एक छोरसे दूसरे छोरतक फैले हुअे नील नभोमण्डल, मणियोंके समान प्रह-नक्षत्र और चंद्रिकाधौत धरित्रीको देखकर वह कभी कुछ भी चिन्तन क्यों न करे, अनेक बार श्वेतवस्त्रधारिणी, विततकेशा, भूर-भूषणा सुंदरी या प्रिय-वियोगमें कातर, खंडिता रजनी या अिसी प्रकारकी अन्ध वस्तुकी कल्पना किअे बिना नहीं रहता। कारण यह है कि कविका प्राथमिक कर्तव्य बिंब-ग्रहण कराना है और उसका साधन अप्रस्तुत विधान है। अिसके बिना कवि मनोरम भावसे हृदय-हारी बनाकर अपना वक्तव्य कह ही नहीं सकता। अप्रस्तुत विधानके समय कविकी कल्पना-वृत्ति सतहपर आ गयी होती है। वस्तुतः चिन्ता करते समय भी कवि वैज्ञानिककी भाँति तथ्यका विश्लेषण नहीं करता होता, बल्कि सत्यको सुंदर करके रखनेका प्रयास करता है (दे० § ३९-४०)।

(३) कवि अपने सीमित व्यक्तित्वके भीतर जिस सुख-दुःखका अनुभव प्राप्त किये होता है, अुमे वह जब कल्पनाके साहाय्यसे, छन्द, अपमा आदिके संयोगसे और निखिल विश्वकी मर्म-व्यथाकी चिन्ता करके जब निर्वैय-क्तिक करके प्रकट करता है, तो अुसे हम अनुभूति-अवस्था कहते हैं। अिस अवस्थामें कवि अपने सीमित सुख-दुःखको असीम जगतमें अनुभव करता है। अिस प्रकार चिन्तनकी अवस्थामें कवि संसारको देखता है और सोचता है कि यह सब क्या हो रहा है, कैसे चल रहा है और क्यों चल रहा है ? अनुभूतिकी अवस्थामें वह अनुभव करता है कि वह क्या हो गया है, कौन-सी वेदना या अुल्लास, विषाद या हर्ष संसारको किस रूपमें परिणत कर रहा है ? कल्पनाकी अवस्थामें वह अिस जगतके समानान्तर जगतकी सृष्टि करता है, जिसमें अिस जगतकी असुंदरताओं और विसदृशताओं नहीं रहतीं, पर अनुभूतिकी अवस्थामें अुसके पैर अिस दुनिया पर ही जमे रहते हैं, वह अिसे छोड़ नहीं सकता।

§४८. भौतिकवादी वैज्ञानिकोंने प्रयोगशालामें यह बात सिद्ध कर दी है कि संसारकी संपूर्ण शक्तिमें घटती-बढ़ती नहीं होती। अनेक वस्तुको जब हम नष्ट होते देखते हैं तो वस्तुतः अुली पारमाणमें अन्य वस्तुओं बनती रहती हैं—संसारकी समूची शक्ति जैसी-की-तैसी बनी रहती है। कुछ नवीन विषयि-मूलता-वादी पश्चिमी दार्शनिकोंने अिस मतका प्रत्याख्यान किया है। अुनका मत यह

है कि मानसिक चिन्ताके रूपमें हम नित्य इस विश्व-शक्तिमें कुछ बढ़ाते जा रहे हैं। कवियोंकी मानसी सृष्टि सत् वस्तु है—अर्थात् वह कल्पना होनेके कारण मिथ्या नहीं है, बल्कि असका अस्तित्व है—और वह निश्चय ही नित्य नवीन होकर बढ़ती जा रही है। मैं इस मतको नहीं समझ पाता, यह यहाँ साफ़-साफ़ स्वीकार कर लेना ही अच्छा है। गीतामें कहा है कि जो वस्तु है ही नहीं वह कभी हो ही नहीं सकती और जो है वह कभी 'ना' नहीं हो सकती। आधुनिक वैज्ञानिकोंका मत इसीका अनुवाद है। परन्तु यह सच है कि वाल्मीकिने जो मानसी सृष्टि की है वही तुलसीदासकी मानसी सृष्टि नहीं है, और मैथिलीशरण गुप्तकी भी निश्चय ही भिन्न सृष्टि है। तो क्या ये नयी रचनाओं विश्वमें कुछ नयी बातें नहीं जोड़ रही हैं? क्या मानसिक ढाँचेके कारण ही वे शून्य हैं? मेरा उत्तर है कि यह बात नहीं है। ये सभी रचनाओं नयी भी हैं और सत्य भी हैं, पर अिनकी रचनाके लिये भी किसी-न-किसी ऐसी ही वस्तुका उपयोग हुआ है जो पहलेसे ही है और बादमें भी रहेगी।

जो बात भौतिक जगत्में हम देख रहे हैं यह उससे मिलती-जुलती है। नयी सामाजिक परिस्थितियाँ पुराने सड़े विचारोंका खाद संग्रह करती हैं और अुर्वर कवि-चित्तभूमिमें नया जीवन्त विचार अंकुरित होता है। पुराने बहुत-कुछको खाकर ही ये विचार नवीन होते हैं। जिस प्रकार ऑट-पत्थरोंका ताजमहल नाना स्थानोंके पत्थर, मिट्टी, मसाले और मानव-श्रमको खपाकर बना है वैसे ही रवीन्द्रनाथकी गीतांजलि नाना स्थानोंकी कल्पना, अनुभूति और चिन्तनका पचाकर बनी है। पुराने पंडितोंने इसी बातको जरा फक्कड़पनके लहजेमें कहा था—कोअी कवि अँसा नहीं है जो चोर न हो—“नारत्यचौरः कविजनः!” कहनेका मतलब यह है कि मानसी सृष्टि भी पुराने विचारोंसे ही तैयार होती है।

§४९. काव्यमें विषयीके प्रधान होनेसे अुन गीत-प्रधान सुक्तकोंका प्रचलन बढ़ गया है जो व्यक्तिगत भावोच्छ्वासको आश्रय वरके लिखे जाते हैं। अँग्लैण्डमें जब व्यावसायिक क्रान्ति हुअी तो वहाँके सांस्कृतिक जीवनमें बड़ा परिवर्तन हुआ था। अस परिवर्तनके समय कवियोंमें और विचारकोंमें सामाजिक रुढ़ियोंके प्रति अनास्थाका भाव बढ़ा था और व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावाद

(रोमांटिसिज़्म) का जोर रहा । अंग्रेजी अमलदारीके साथ-ही-साथ इस देशमें अंग्रेजी साहित्य पढ़ाया जाने लगा । इसीके फलस्वरूप इस देशके कवियोंमें भी वैयक्तिक स्वार्थानता (इन्डिविजुअल लिबर्टी) का जोर बढ़ता गया । इंग्लैण्ड और इस देशकी परिस्थिति अेक जैसी नहीं थी । इंग्लैण्डमें यह हवा वहाँके भीतरी जीवनका परिणाम थी, जब कि इस देशमें वह विदेशी संसर्ग और अन्य कारणका फल था । शुरू-शुरूमें इसीलिये यह अस्वाभाविक-सी लगी परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों कविगण अपने देशकी वास्तविक परिस्थितिके साथ और अपनी साहित्यिक परंपराके साथ सामंजस्य खोजते गये । सामंजस्य खोजने वालोंमें प्रमुख कवि हैं—प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी वर्मा । इन कवियोंने भावमें, भाषामें, छन्दमें और मंडन-शिल्प (डेकोरेशन) में नवीन विचारोंके साथ सामंजस्य किया । इस व्यक्तिगत स्वच्छन्दतावादके साथ ही साथ नाना भावके प्रगीत-मुक्तक इस देशमें लिखे जाने लगे ।

हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि इनमें कुछ कल्पनामूलक हैं; कुछ चिन्तनमूलक और कुछ अनुभूतिमूलक । मुक्तक इस देशमें नयी चीज़ नहीं हैं । हालकी 'प्राकृत सत्तसभी' और अमरूकका संस्कृत 'अमरूक-शतक' और 'बिहारी-सत्तसभी' मुक्तक काव्य ही हैं । " मुक्तकमें प्रबंधके समान रसकी धारा नहीं रहती, जिसमें कथा-प्रसंगकी परिस्थितिमें अपनेको भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदयमें अेक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है । इसमें तो रसके अैसे छीटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देरके लिये खिल उठती है । यदि प्रबंध-काव्य अेक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक अेक चुना हुआ गुलदस्ता है । अुत्तरोत्तर अनेक दृश्यों-द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी अेक पूर्ण अंगका प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोअी अेक रमणीय खंड दृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ कषणोंके लिये मंत्रमुग्ध-सा हो जाता है । इसके लिये कविको मनोरम वस्तुओं और व्यापारोंका अेक छोटा-सा स्तवक कल्पित करके अुन्हें अत्यन्त संक्षिप्त और सशक्त भाषामें व्यक्त करना पड़ता है (रामचंद्र शुक्ल) । ”

इन प्राचीन मुक्तकोंमें कविकी कल्पना कुछ अैसे शास्त्ररूढ़ व्यापारोंकी योजना करती थी जिनसे किसी रस या भावकी व्यंजना सुकर हो । आधुनिक

प्रगीत मुक्तक कविके भावावेगके महत् कषणोंकी रचना होते हैं, उनमें गीतकी सहज और हल्की गति होती है। अनिकी गुलदस्तोंके साथ तुलना नहीं की जा सकती। ये विच्छिन्न जीवन-चित्र होनेपर भी प्रवाहशील होते हैं और अनिके शास्त्र-रूढ़ व्यापार-योजनाकी आवश्यकता नहीं होती। पुराने रूपकोंमें कवि-कल्पनाकी समाहार शक्ति प्रधान हिस्सा लेती थी, पर आधुनिक मुक्तकोंमें कविका भावावेग ही प्रधान होता है।

§५०. परन्तु अितना स्मरण रखना अुचित है कि आजकलके प्रगीत मुक्तकोंमें यद्यपि व्यक्तिगत अनुभूतियोंका प्राधान्य है तो भी वे असलिये हमारे चित्तमें आनंदका संचार नहीं करतीं कि वे कविकी व्यक्तिगत अनुभूति हैं, बल्कि असलिये कि वे हमारी अपनी अनुभूतियोंको जागृत करती हैं। हमने शुरूमें ही लक्ष्य किया है कि सहृदयके चित्तमें वासना रूपमें स्थित भावको ही कविता अुद्बुध करती है। जो बात हमारे मनको आनंदसे हिल्लोलित कर देती है वह हमारी अपनी होती है। असलिये यद्यपि आजके अच्छे मुक्तक-लेखक कविकी विषय-प्राहिता परम्परा-समर्थित न होकर आत्मानुभूतिमूलक है—वस्तुतः यह आत्मानुभूति सदा ही कविमें रही है, फिर वह आजका युग हो या हजार वर्ष पहलेका—तथापि वह पाठकके भीतर जो भाव है उसीको अुद्बुध करके रस-संचार करता है।

अिस बातको किसी अंग्रेज समालोचकने अिस प्रकार कहा है कि आधुनिक प्रगीत मुक्तकोंकी अपनी अनुभूतिके बलपर कवि सहृदय पाठकके हृदयमें प्रवेश करता है और उसके हृदयमें स्थित उसी भावके अनुभव करनेवाले कविके साथ अेकात्मताका संबंध स्थापित करता है। अिस बातको अिस प्रकार भी कहा गया है कि यद्यपि आजका प्रगीत मुक्तक व्यक्तिगत विषय-प्राहिताका परिणाम है, परन्तु वह अुतना ही सामाजिक है जितना रीतिकालीन रूढ़ियोंकी योजनाके भीतरसे गृहीत मुक्तक होता था। अिस प्रकार दोनोंमें समानताकी मात्रा कम नहीं है। व्यक्तिगत होनेके कारण अिन अनुभूतियोंका कषेत्र बहुत बड़ गया है।

पुराने मुक्तकमें जिन विभावोंकी योजना केवल अुद्दीपनके रूपमें होती थी और जिन अनुभावोंका वर्णन केवल मानवीय मनोरार्गोंकी अपेक्षामें ही होता

था, वे विभाव अब आलंबनके रूपमें योजित होने लगे हैं। और वे अनुभाव अब मनुष्यसे बाहरके जगत्के कल्पित मनोरागोंके संबंधमें वर्णित किये जाने लगे हैं। ऐसा करनेके कारण भाषामें अधिकाधिक लक्षणात्मकता आने लगी है, क्योंकि जब प्रकृतिको यदि आलंबन बनाकर सुसमंजस अनुभावों और हावोंकी योजना की जायगी तो लक्षणा-वृत्तिका आश्रय लेना पड़ेगा। किसी-किसी वृद्ध आचार्यको इस प्रकारकी योजना पसंद नहीं आयी है।

§५१. परिस्थितियोंके बदलनेके कारण कविने ही अपनी कारीगरीका माध्यम नहीं बदला है; आजका सहृदय भी प्राचीन कालके सहृदयसे भिन्न हो गया है। अेकाध उदाहरण लेकर इसे समझा जाय—

माअे घोवअरणं अज्जहु णत्थित्ति साहिअं तुमअे ।

ता भण किं करणिज्जं अमेअ ण वासरो ट्ठाअि ॥

—‘माँ, यह तो तुमने पहले ही बता रखा है कि आज घरके काम-धन्धेकी कोअी सामग्री नहीं। तो बताओ, मुझे क्या करना है, दिन तो यों ही पड़ा नहीं रहेगा।’

काव्य-प्रकाशके आचार्य मम्मटने इस कविताको व्यंग्यार्थके प्रसंगमें उद्धृत किया है। उन्होंने इसमें यह ध्वनि बतायी है कि लड़की अपने प्रियसे मिलनेको व्याकुल है, अतएव वह गृहकार्यका बहाना बनाकर बाहर जाना चाहती है। श्लोकसे यह बात साफ मालूम होती है कि घरमें गृहकर्मके उपकरण नहीं हैं। यह बात बाहर जानेके लिये जरूरतसे ज़्यादा कारण हो सकती है। पर आज तक किसी सहृदयने मम्मटकी बातपर संदेह नहीं किया, क्योंकि कविने जिस ‘स्पिरिट’ में कविता लिखी थी उसे उन्होंने ठीक ही पकड़ा था। उस युगमें कोअी भी समालोचक इसमें आत्मा और परमात्माकी मिलन-विरह-वेदनाका आभास पाकर उपहासास्पद बनना पसंद न करता; क्योंकि उस युगमें आत्मा-परमात्मा सर्वत्र मिलते थे, इस श्लोकमें न भी मिलते तो कवि या सहृदयको कोअी चिन्ता न थी। अेक नहीं कविता नीचे उद्धृत की जा रही है। इसमें विहारार्थिनीकी व्यंजना अधिक साफ हो सकती थी, पर कोअी सहृदय अैसा व्यंग्यार्थ निकालकर इस युगमें उपहासास्पद हुआ बिना न रहेगा—

आमि कोन् छले याब घाटे ?

शाखा थरथर पाता मरमर —

छाया सुशीतल बाटे ?

बेला बेशि नाअि, दिन हल शोध,

छाया बेड़े पाय, पड़े आसे रोद,

अ बेला केमन काटे ?

आमि कोन् छले याब घाटे ?

(रवीन्द्रनाथ)

—‘मैं किस बहाने घाटपर जाऊँ ? किस छलसे उस रास्तेपर जाऊँ, जहाँ शाखाओं थरथर काँप रही हैं, पत्ते मर्मर-ध्वनि कर रहे हैं । अब अधिक समय नहीं है, दिन समाप्त हो चला है, छाया बढ़ती जा रही है, हाय यह समय कैसे कटेगा ? —मैं किस बहाने घाटपर जाऊँ ?’

§५२ ऊपर रवीन्द्रनाथकी जो कविता सुद्धृत की गयी है उसमें निश्चय ही अनेक प्रकारका प्रेम व्यंग्य है । वह प्रेम मनुष्यका ही है, पर उसका आलंबन मनुष्य नहीं है बल्कि नदी है, घाट है, रास्ता है, वृक्ष हैं, झरमुट हैं । मध्ययुगमें अनेक वस्तुओंको केवल सुर्हापन विभाव (दे० § २७) के रूपमें देखनेकी चलन हो गयी थी । मनुष्यके प्रेमका आलंबन मनुष्य ही हो सकता है, यह बात कुछ जँचती नहीं मालूम होती ।

आचार्य रामचंद्र शुक्लजीने प्रेम-प्रतिष्ठाके दो कारण बताये हैं—
(१) सुंदर रूपके अनुभव द्वारा और (२) साहचर्य द्वारा । शुक्लजीका कहना है कि सुन्दर रूपके आधारपर जो प्रेम-भाव या लोभ प्रतिष्ठित होता है उसकी कारण-परम्परा पहचानी जा सकती है, हम उसका क्रम देख सकते हैं । परन्तु जो प्रेम केवल साहचर्यके प्रभावसे अंकुरित और पल्लवित होता है वह अनेक प्रकारसे हेतु-ज्ञान-शून्य होता है । ‘यदि हम किसी किसानको उसकी शोषणीसे हटाकर किसी दूर देशमें ले जाकर राजभवनमें टिका दें तो वह उस शोषणीका, उसके छप्परपर चढ़ी हुआ बेलका, सामनेके नीमके पेड़का, द्वारपर बँधे हुआ

चौपायोंका ध्यान करके आँसू बहायेगा। वह यह कभी नहीं समझता कि मेरा यह झोपड़ा इस राजभवनसे सुंदर था, परंतु फिर भी इस झोपड़ेका प्रेम उसके हृदयमें बना हुआ है। वह प्रेम रूप-सौंदर्यगत नहीं है: सच्चा, स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेमको रूप-सौंदर्यगत प्रेम नहीं पहुँच सकता। रवीन्द्रनाथकी कवितामें यही प्रेम प्रकट हुआ है।

व्रजभाषाकी कविताओंमें यह भाव है ही नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर कम है, यह बात ठीक है। श्रीकृष्णने जब कहा था कि 'कोटिनह कलधौतके धाम करीलकी कुंजन ऊपर वारौ', तो वहाँ करीलके कुंज ही उनके प्रेमके आलंबन थे। यह व्याख्या अतनी मनोहर नहीं है कि करीलके कुंज अन्हें इसलिये प्रिय थे कि वे गोपियोंके साथ जो प्रेमलीला होती थी उसे अर्द्धाप्त करनेके साधन थे। प्रकृतिके विभिन्न रूपोंके लिये हमारे चित्तमें जो आकर्षण है वह केवल इसलिये नहीं कि वे हमारे मानवाश्रित प्रेमको अुत्तेजित करते हैं, बल्कि इसलिये कि हमारे अन्तःकरणमें निहित वासनाको अुसी प्रकार अुदबुद्ध करते हैं जिस प्रकार नायक-नायिकाके प्रेमालाप हमारे अन्तःकरणमें वासना रूपसे स्थित स्थायीभावको अुदबुद्ध करते हैं। इसलिये ये भी हमारी रसानुभूतिके कारण हैं।

पं. रामचन्द्र शुक्लने लिखा है कि “वनों, पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपटों, खेतों, खेतोंकी नालियों और घासके बीचसे गयी हुयी दुर्रियों, हल-बैलों, झोपड़ों और श्रममें लगे हुये किसानों अित्यादिमें जो आकर्षण हमारे लिये है वह हमारे अन्तःकरणमें निहित वासनाके कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभाके कारण नहीं। जो केवल पावसकी हरियाली और वसन्तके पुष्प-हासके समय ही वनों और खेतोंको देखकर प्रसन्न हो सकते हैं, जिन्हें केवल मंजरी-मंडित रसालों, प्रफुल्ल कंदबों, और सघन मालती-कुंजोंका ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्मके खुले हुये पटपर, खेत और मैदान, शिशिरकी पत्र-विहीन, नंगी वृक्षावली और झाड़-झबूल आदि जिनके हृदयको कुछ भी स्पर्श नहीं करते उनको प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिये। वे अपने विलास या सुखकी सामग्री प्रकृतिमें ढूँढ़ते हैं, उनमें अुस सत्त्वकी कमी है जो सत्तामात्रके साथ

अेकीकरणकी अनुभूतिद्वारा लान करके आत्मसत्ताके विभुत्वका आभास देती है ।

“संपूर्णसत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, अेक ही परम सत्ता या परम भाव (दे० ५५-६) के अन्तर्गत है । अतः ज्ञान या तर्कबुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भवतक पहुँचते हैं, उसी भवतक असि ‘सत्त्व’ गुणके बलपर हमारी रागात्मिक वृत्ति भी पहुँचती है (तुल० ५२९) । असि प्रकार अन्ततः वृत्तियोंका समन्वय हो जाता है । यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूतको आत्मवत् जान सकते हैं तो रागात्मिक वृत्ति द्वारा असुवा अनुभव भी कर सकते हैं । तर्कबुद्धिसे हारकर परम ज्ञानी भी असि स्वानुभूतिका आश्रय लेते हैं । अतः परमार्थ दृष्टिसे, दर्शन और काव्य दोनों अन्तःकरणका भिन्न-भिन्न वृत्तियोंका आश्रय लेकर, अेक ही लक्ष्यकी ओर ले जानेवाले हैं । असि व्यापक दृष्टिसे काव्यका विवेचन करनेसे लक्षण-ग्रंथोंमें निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं-कहीं बहुत खटकती है । वन, अपवन चौदनी अित्यादिको दाम्पत्य रतिके अुद्गोपन मात्र माननेसे सन्तोष नहीं होता ।”

५५३. विषयि-प्रधान कवि प्रकृतिको आलंबनके रूपमें चित्रित करने लगा है । लेकिन यह युग वैयक्तिक स्वाधीनताका है । आधुनिक कविने प्राचीन साहित्यिक रूढ़ियोंकी अपेक्षा की है, असिने अपन देखनेका ढंग भी अपना ही रखा है । असिका परिणाम यह हुआ है कि आलंबन होनेपर भी प्रकृतिका बिंब-ग्रहण सबने अेक ही ढंगसे नहीं किया है । देखनेके ढंगके बदलनेके कारण द्रष्टव्यके नाना पहलू नाना भावसे प्रधान होकर हमारे अनुराग-विरागके साधन बने हैं । अिन भेदोंको गिन सकना संभव नहीं है । कुछ मोटे भेद असि प्रकार बताअे जा सकते हैं :—

(१) वाच्यार्थ-प्रधान दृष्टि, (२) लक्ष्यार्थ-प्रधान दृष्टि और (३) व्यंग्यार्थ-प्रधान दृष्टि ।

विषयि-प्रधान कविके सामने यह सारु विश्व मानो अेक काव्य-ग्रंथ है । वह असि काव्य-ग्रंथका अर्थ अपने ढंगसे समझता है ।

(१) वाच्यार्थ-प्रधान दृष्टिवाले कवि इस जगतको यह जसा है वैसा ही देखते हैं । इसके नद-नदी, पहाड़-जंगल अपने-आपमें परिपूर्ण और महनीय हैं । वे जैसे हैं वैसे ही महान् हैं । अभिव्यक्तिवादी कवि इसी श्रेणीके हैं ।

(२) लक्ष्यार्थ-प्रधान दृष्टिवाले कवि मानते हैं कि यह जगत अपने आपमें बाधित है । प्रकृति लाख-लाख बीज प्रतिवर्ष पैदा करती है । उनमेंसे अधिकांश नष्ट हो जाते हैं । कुछ थोड़ेसे जीवित रह पाते हैं । यह लाख-लाख नष्ट होनेवाले बीज कुछ असत्य हों, ऐसी बात नहीं; परन्तु वे अपने आपमें ही संपूर्ण सत्य नहीं हो सकते । किसी विराट् प्रयोजनके लिये यह महानाशक कार-बार चल रहा है । इन कवियोंके मतसे इस सृष्टिकी सिद्धिके लिये दूसरे किसीका आक्षेप अपेक्षित है, या फिर दूसरेकी सिद्धिके लिये यह अपना अर्थ ही खो देती है ।

(३) व्यंग्यार्थ-प्रधान दृष्टिवाले कविके लिये यह जगत् केवल एक अपलक्ष्य-मात्र है, एक अशारा-भर है । सत्य है इसके पीछे प्रच्छन्न रहस्य । इस जगत्की प्रत्येक वस्तु परमार्थतः उस प्रच्छन्न रहस्यकी ओर ही संकेत कर रही है । संसारकी प्रत्येक वस्तु मानो उस अपरिचित रहस्यकी ओर ध्यान खींचनेवाली अंगुली है जो स्वयं कुछ न होकर उसीको दिखा रही है । अनादि कालसे मानव-चित्तमें यह रहस्य वर्तमान है । आदि-मानवके मनोजगत्की यह रहस्य-भावना मध्ययुगतक नाना स्तरोंको पार करता हुआ लीलामय भगवान्के रूपमें प्रकट हुआ था । आज संसारमें जब उस अतृप्त भावनाके लिये अकुण्ठ मार्ग नहीं रह गया है तो वह रसमय काव्य-संसारमें पूर्ण रूपसे आत्मप्रकाश करने लगी है ।

१५४. हिन्दीमें जब नवीन युगकी हवा बही तो जो विषय-प्रधान कविताओं भी लिखी जाने लगीं, वे सभी कविताओं एक ही श्रेणीकी नहीं थीं । कुछ वाच्यार्थ-प्रधान थीं, कुछ व्यंग्यार्थ-प्रधान । पर सबमें प्राचीन रूढ़ियोंकी अपेक्षा की गयी थी । किसीने इस प्रकारकी सब कविताओंका नाम 'छायावाद' रख दिया । बादमें व्यंग्यार्थ-प्रधान दृष्टि रखनेवाले कवियोंको यह नाम अपयुक्त

नहीं लगा। अन्होंने संशोधन करके 'रहस्यवाद' नाम दिया। कुछ दिनतक ये दोनों ही शब्द चलते रहे। अबतक पींडितोंने दोनों शब्दोंका अलग-अलग अर्थ नियत कर दिया है।

पं. रामचन्द्र शुक्लके मतसे छायावादके दो अर्थ होते हैं— (१) अेक तो रहस्यवादके अर्थमें जहाँ उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तुसे होता है, अर्थात् जहाँ कवि किसी अज्ञात और अनन्त प्रियतमको अवलम्ब बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषामें अनेक प्रकारसे प्रेमकी व्यंजना करता है; और (२) दूसरा प्रयोग काव्य-शैली या पद्धति-विशेषके व्यापक अर्थमें है। छायावादका सामान्यतः यह अर्थ हुआ—प्रस्तुतके स्थानपर उसकी व्यजना करनेवाली छायाके रूपमें अप्रस्तुत (दे० ५ ३२) का कथन। शुक्लजीने लिखा है कि 'छायावादका पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो चलनेवाली श्री महादेवी ही है। पन्त, प्रसाद, नराला अित्यादि और सब कवि प्रताक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैलीकी दृष्टिसे ही छाया-वादी कहलाये।'

यह प्रतीक-पद्धति क्या है? शुक्लजीके ही शब्दोंमें कहा जाय तो 'चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक-पद्धतिके अन्तर्गत जिस प्रकार वाचक पदोंके स्थानपर लक्षक पदोंका (दे० ५ २१-२२) व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग-पर अप्रस्तुत चित्रोंका विधान भी। अतः अन्योक्ति-पद्धतिका अवलंबन ही छायावादका अेक विशेष लक्षण हुआ।'

वस्तुतः आचार्य शुक्ल छायावादको अेक शैली विशेष ही अधिक समझते थे। असि शैलीकी मुख्य विशेषताअें ये हैं—लाक्षणिकता, प्रभाव-रहस्य-पर जोर, प्रकृतिके वस्तु-व्यापारोंपर मानुषी वृत्तियोंका आरोप, प्रेमगीतात्मक प्रवृत्ति।

किन्तु श्री महादेवी वर्माके मतसे छायावादकी तीन विशेषताअें हैं— (१) व्यक्तिगत अनुभवमें प्राण-संचार, अर्थात् कवि व्यक्ति रूपमें जो अनुभव करता है वह उसके अपने जीवनकी देन है, वह किसी रुढ़ि या शास्त्रके बलाअे हुअे विषयको घोखता नहीं रहता; (२) प्रकृतिके अनेक रूपोंमें अेक

महाप्राणका अनुभव, और (३) सीमा और असीमका ऐसा सम्बंध जिसमें एक प्रकारके अलौकिक व्यक्तित्वका आरोप हो। इस प्रकार महादेवी वर्मा छायावादको शैली-विशेष ही नहीं मानतीं, वे काव्य-वस्तुकी ओरसे भी इसपर विचार करती हैं। रहस्यवाद इसके बादकी वस्तु है। महादेवीजी कहती हैं कि मनुष्य-मनुष्यके बीच जो गगात्मक संबंध है, उसमें जबतक अनुरागजन्य विसर्जनका भाव नहीं घुल जाता तबतक वे सरस नहीं हो पाते। परन्तु मनुष्यके हृदयका अभाव तबतक दूर नहीं होता जबतक यह संबंध सीमाहीनके प्रति न हो। सो, उस सीमाहीन अनन्त सत्तामें एक मधुर व्यक्तित्वका आरोप करके उसके प्रति जो अनुरागजन्य सरस आत्म-निवेदनमूलक कविताओं हैं, उन्होंने रहस्यवाद होता है।

§ ५५. मुझे ऐसा लगता है कि रहस्यवादी कविताका केन्द्र-बिंदु वह वस्तु है जिसे भक्ति-साहित्यमें 'लीला' कहते हैं। यद्यपि रहस्यवादी भक्तोंकी भाँति पद-पद पर भगवान्का नाम लेकर भाव-विह्वल नहीं हो जाता, परन्तु वह मूलतः है भक्त ही। उसका भगवान्पर अविचलित विश्वास होता है। ये भगवान् अगम-अगोचर तो हैं ही, वाणी और मनके अतीत भी हैं; फिर भी रहस्यवादी कवि उनको प्रतिदिन प्रतिक्षण देखता रहता है। वे ज्ञानके अगम्य होकर भी प्रेमके वर्शाभूत हैं, क्योंकि ज्ञान सब मिलाकर हमारी अल्पज्ञताको ही दिखा देता है, पर प्रेम समस्त त्रुटियों और विन्युतियोंको भर देता है। संसारमें जो कुछ घट रहा है, और घटना संभव है, वह सब उस परम प्रेममयकी लीला है—उसे खोलनेमें आनंद आता है। भक्त उससे प्रेम करके अपनी समस्त त्रुटियोंको पूर्ण करता है। इसीलिये महादेवी वर्माने कहा है कि मनुष्यके हृदयका अभाव तबतक दूर नहीं होता जबतक सीमाहीनके प्रति रागात्मक संबंध न हो। सीमाहीन अर्थात् परम प्रेममय भगवान्। भगवान्के साथी यह निरन्तर चलने-वाली प्रेम-केली ही रहस्यवादी कविताका केन्द्र-बिंदु है। इसीको किसी और उपयुक्त शब्दके अभावमें पश्चिमके समालोचकोंने 'मिस्टिसिज्म' कहा है, और इसीको ठीक-ठीक न समझनेके कारण, न जाने किसने, रहस्यवाद नाम दे दिया था। यह नाम भ्रामक है, क्योंकि 'लीला' कोभी रहस्य नहीं है। रहस्य

शंकाका नाम है, लीला समाधानका । आधुनिक हिंदी कवितामें इस तत्त्वका सर्वोत्तम विकास महादेवी वर्माकी कविताओंमें ही मिलता है ।

§ ५६. विषयि-प्रधानताके साथ-साथ काव्यका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है । केवल चेतन मनके विचार, अनुभव या प्रभाव ही उसका विषय नहीं हो गये हैं । फ्रायडके मनोविज्ञानने बताया है कि मनुष्यके मनका चेतन रूप उसके ऊपर-ऊपरका हिस्सा है । नीचेका हिस्सा अवचेतन मन है जो बहुत शक्तिशाली वस्तु है । इस अवचेतन मनकी अस्पष्ट और असम्बद्ध अनुभूतियाँ भी विषयि-प्रधान काव्यका विषय होने लगी हैं । स्वप्न, आविष्ट भाव और दिवास्वप्नकी असंबद्ध बातें तो काव्यका मनोहर विषय समझी ही जाने लगी हैं, नाना भौतिक मनोवैज्ञानिक और अंकशास्त्रीय प्रतीकोंकी भरमारने काव्यके क्षेत्रमें नवीन जटिलताका सूत्रपात किया है । प्रतीकोंने शब्दोंको दबोच दिया है । हमने शुरूमें ही लक्ष्य किया है कि शब्द और अर्थ दोनोंको लेकर साहित्य बनता है । जहाँ शब्दोंकी पूरी अपेक्षा हुई हो वहाँ कविता संभव ही नहीं है । इस जटिलताके द्वारा नम्र यथार्थवादी काव्य-साहित्यको संपूर्ण रूपसे पराहत कर देनेके कारण ये कविताएँ अति यथार्थवादी कही जाने लगी हैं । फ्रायडके मनोविज्ञान-शास्त्रने अवचेतन मनके जिन प्रतीकोंकी स्थापना की है उनका खुलकर व्यवहार होने लगा है ।

§ ५७. हमने अबतक काव्यके भिन्न-भिन्न उपकरणोंपर विचार किया है । ये उपकरण काव्यको और कविके अदिष्ट अर्थको समझनेमें सहायक हैं । अिन उपकरणों और शैलियोंको ही मुख्य माननेकी ज़रूरत नहीं । काव्य कोभी संकीर्ण बुद्धि-विलास नहीं है । वह मनुष्यके जीवनके सब कुछको लेकर बनता है । आदिकवि वाल्मीकिको आम्नायसे भिन्न छन्द मिला था, यह कहानी सबकी जानी हुई है । परन्तु उन्हें उपयुक्त विषय नहीं मिल रहा था । वे अनुमत्तकी भाँति घूम रहे थे । उसी समय नारदसे उनका साक्षात्कार हुआ । नारदने उन्हें विषय सुझाया था । उन्होंने कहा था कि अबतक देवताओंको मनुष्य बनाया गया है अब तुम मनुष्यको देवता बनाओ !

मनुष्यको देवता बनाना ही काव्यका सबसे बड़ा अद्देश्य है। मनुष्यको खुसकी स्वार्थ बुद्धिसे ऊपर उठाना, उसको अिहलोककी संकीर्णताओंसे ऊपर उठाकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित करना, उसे परदुःखकातर और संवेदनशील बनाना और निखिल जगत्के भीतर चिर-स्तब्ध 'अेक' की अनुभूतिके द्वारा प्राणिमात्रके साथ आत्मीयताका अनुभव कराना ही काव्यका काम है। छंद, अलंकार, पद-लालित्य और शैलियाँ इसी महान् अद्देश्यकी पूर्तिके साधन हैं। इस अद्देश्यको वह अन्यान्य मनीषियोंकी भाँति दीर्घ व्याख्या करके नहीं सिद्ध करता, बल्कि अिन साधनोंकी सहायतासे वह महान् सत्यको आसानीसे व्यंग्य करता रहता है। यह हम पहले ही लक्ष्य कर चुके हैं कि उत्तम व्यंग्य या ध्वनि ही काव्यका प्राण है।

६. उपन्यास और कहानी

§५८. उपन्यास और कहानियाँ हमारे साहित्यमें नयी चीज़ हैं। पुराने साहित्यमें कथा, आख्यायिका आदिके रूपमें इस जातिका साहित्य मिलता है पर उनमें और आधुनिक कथाओं— उपन्यास और कहानियों—में मौलिक भेद है। मौका पाकर हम इस भेदके समझनेका प्रयत्न करेंगे। अभी तो हम आधुनिक ढंगके उपन्यासों और कहानियोंकी ही चर्चा करने जा रहे हैं।

§५९. उपन्यास इस युगका बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है। शायद ही कोभी पढ़ा-लिखा नौजवान इस ज़मानेमें ऐसा मिले जिसने दो चार उपन्यास न पढ़े हों। यह बहुत मनोरंजक साहित्यांग माना जाने लगा है। आजकल जब किसी पुस्तकको बहुत मनोरंजक पाया जाता है तो प्रायः कह दिया जाता है कि इस पुस्तकमें उपन्यासका-सा आनंद मिल रहा है। किसी-किसी यूरोपियन समालोचकने उपन्यासका अकेला गुण उसकी मनोरंजकताको ही माना है। इस साहित्यांग (उपन्यास) ने मनोरंजनके लिये लिखी जानेवाली कविताओंका ही नहीं, नाटकोंका भी रंग फीका कर दिया है; क्योंकि पाँच मील दौड़कर रंगशालामें जानेकी अपेक्षा पाँचसौ मील दूरसे बैसी किताब मँगा लेना कहीं अधिक आसान हो गया है जो अपना रंगमंच अपने पक्षोंमें ही लिखे हुए हो।

उपन्यासमें उन टंटोंकी कोभी ज़रूरत नहीं रह जाती जो रंगमंच सजानेमें आ खड़े होते हैं। किसीने बिल्कुल ठीक कहा है कि आजके ज़मानेमें उपन्यास अकेले ही साथ शिष्टाचारका सम्प्रदाय, बहसका विषय, इतिहासका चित्र और पाकेटका थियेटर है। मशीनने ही इस जातिके साहित्यका उत्पादन बढ़ाया है और उसीने इसके वितरणका पथ प्रशस्त किया है। उपन्यास-साहित्यमें मशीनकी विजय-ध्वजा है। ऐसे लोकप्रिय साहित्यको समझनेका प्रयत्न

क्या करना भला ! किन्तु दुनियामें प्रायः ही ऐसा देखा जाता है कि सबसे प्रिय वस्तुको समझनेमें ही आदमी सबसे अधिक गलती करता है । प्रिय वस्तुओंके प्रति एक प्रकारका मोह हुआ करता है जो ज्ञानका परिपंथी है । उपन्यासके समझनेमें भी बहुत ग़लतियाँ की जाती हैं । सीधी लकीरका खींचना सचमुच टेढ़ा काम है !

§६० परन्तु उपन्यास है क्या चीज़ ? हिन्दीके श्रेष्ठ औपन्यासिक प्रेमचंदजीने लिखा है कि “उपन्यासकी ऐसी कोअी परिभाषा नहीं है जिसपर सब लोग सहमत हों ।” फिर भी उन्होंने उसे समझानेका प्रयत्न किया है । वे कहते हैं :—

“मैं उपन्यासको मानव-चरित्रका चित्रमात्र समझता हूँ । मानव-चरित्र-पर प्रकाश डालना और उसके रहस्योंको खोलना ही उपन्यासका मूल तत्त्व है । किन्हीं भी दो आदमियोंकी सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियोंके चरित्र नहीं मिलते । जैसे सब आदमियोंके हाथ, पाँव, आँखें, कान, नाक, मुँह होते हैं, पर अतनी समानता रहनेपर भी विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भाँति सब आदमियोंके चरित्रोंमें भी बहुत कुछ समानता होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ होती हैं । यही चरित्र-संबंधी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्वमें भिन्नत्व और विभिन्नत्वमें अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यासका मूल्य कर्तव्य है ।

“संतान-प्रेम मानव-चरित्रका एक व्यापक गुण है । ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी सन्तान प्यारी न हो । लेकिन इस सन्तान-प्रेमकी मात्राएँ हैं, उसके भेद हैं । कोअी तो संतानके लिये मर मिटता है, उसके लिये कुछ छोड़ जानेके लिये आप नागा प्रकारके कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभिरुताके कारण अनुचित रीतिसे धन-संचय नहीं करता । उसे शंका होती है कि वहाँ इसका परिणाम हमारी सन्तानके लिये बुरा न हो । कोअी आँचिल्यका लेशमात्र भी विचार नहीं करता और जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है, चाहे इसकेलिये उसे दूसरोंका गला ही क्यों न काटना पड़े । वह सन्तान-प्रेमपर अपनी आत्माको भी बलिदान कर देता है । एक तासरा सन्तान-

प्रेम वह है जहाँ सन्तानकी सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता उसका कुचरित्र देखकर उससे अदासीन हो जाता है, उसके लिये कुछ छोड़ जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। इसी प्रकार अन्य मानवी गुणोंकी भी मात्राओं और भेद हैं। चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म और जितना ही विस्तृत होगा उतनी ही सफलतासे चरित्रोंका चित्रण हो सकेगा। संतान-प्रेमकी एक दशा यह भी है जब पिता पुत्रको कुमार्गपर चलते देखकर उसका घातक शत्रु हो जाता है। और वह भी सन्तान-प्रेम ही है जब पिताके लिये पुत्र घीका लड होता है, जिसका टेढ़ापन उसके स्वादमें बाधक नहीं होता। एक ऐसा सन्तान-प्रेम भी देखनेमें आता है जहाँ शराबी और जुआड़ी पिता पुत्र-प्रेमके वशीभूत होकर सारी बुरी आदतें छोड़ देता है।”

अस प्रकार प्रेमचंदजी उपन्यासको बहु-विचित्र मनुष्य-जीवनका चित्र-मात्र मानते हैं। यह चित्र सुंदर हुआ है या नहीं और यदि सुंदर हो सका है तो पाठककी आकर्ष-सिद्धिमें कहींतक सहायक हुआ है, यह बात फिर भी विचारणीय रह जाती है।

§६१. उपन्यास और कहानियोंकी हम इस अध्यायमें एक साथ विवेचना करने जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि दोनों वस्तुतः एक ही जातिकी चीजें हैं। शुरू-शुरूमें तो छोटे उपन्यासको ही ‘कहानी’ कहते थे। परन्तु छापेके कल तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओंके प्रचारने छोटी कहानियोंका बहुत प्रचार किया और धीरे-धीरे वे उपन्याससे स्वतंत्र हो गयीं। बादमें चलकर यह निश्चय हो गया कि आकारमात्र ही कहानीकी विशेषता नहीं है। कहानीका अपना एक लक्ष्य होता है। इस लक्ष्यकी पूर्तिके लिये कहानी लेखक कम-से-कम पात्रों और घटनाकी योजना करता है। वह लक्ष्य ही प्रधान होता है, घटना और पात्र निमित्तमात्र। इस प्रकार उपन्यास और कहानीका प्रधान अन्तर यह होता है कि उपन्यासमें चरित्रों और घटनाओंका प्राधान्य रहता है, वे केवल निमित्तमात्र नहीं होते, बल्कि अन्हें स्वच्छन्द रूपसे विकसित होनेका मौका मिलता है, जब कि ये दोनों ही तत्त्व कहानीमें प्रधान न हो कर निमित्तमात्र बने रहते हैं।

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि यह नहीं कहा जा रहा है कि कहानीमें पात्र और घटना गौण होते हैं, बल्कि यह कहा जा रहा है कि वे निमित्तमात्र होते हैं; असली बात लक्ष्य होती है। और खुस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये पात्र और घटना जितने सहायक होते हैं खुतने ही रखे जाते हैं। लेखकका व्यक्तिगत मत जिसमें अधिक स्पष्ट होता है। कुछ समालोचकोंने अेक अपुमा देकर जिस बातको समझानेकी चेष्टा की है। अपुन्यास अेक शाखा-प्रशाखावाला विशाल वृक्ष है, जब कि छोटी कहानी अेक सुकुमार लता। कुछ दूसरे समालोचकोंने बताया है कि अपुन्यास और कहानीका वही संबंध है जो महाकाव्य और गीतिकाव्यका। अन अपुमाओंके बहाने जो बात कही गयी है खुसे स्पष्ट भाषामें जिस प्रकार रखा जा सकता है:—अपुन्यास और कहानी दोनों अेक ही जातिके साहित्य हैं; परन्तु उनकी अपुजातियाँ जिसलिये भिन्न हो जाती हैं कि अपुन्यासमें जहाँ पूरे जीवनकी नाप-जोख होती है, वहाँ कहानीमें खुसकी सिर्फ अेक झौकी मिल जाती है। मानव-चरित्रके किसी अेक पहलूपर या खुसमें घटित किसी अेक घटनापर प्रकाश डालनेके लिये छोटी कहानी लिखी जाती है।

देखा गया है कि अच्छे अपुन्यासकार सब समय अच्छे कहानी-लेखक नहीं हो सके हैं, ठीक खुसी प्रकार अच्छे महाकाव्य-लेखक सब समय अच्छे गीतिकाव्य-लेखक नहीं हुअे हैं। यह तथ्य जिस बातका सबूत है कि कहानी और अपुन्यासके लिखनेमें भिन्न-भिन्न कोटिकी प्रतिभा आवश्यक होती है। प्रेमचंदजीने कहा है कि कहानीमें बहुत विस्तृत विश्लेषणकी गुंजायिश नहीं होती। कहानी-लेखकका खुद्देश्य संपूर्ण मनुष्य-जीवनको चित्रित करना नहीं, वरन् खुसके चरित्रके अेक अंग-मात्रका दिखाना होता है।

नये आलोचकोंके मतसे अधर कहानीकी कारीगरवाले दृष्टिकोणमें थोड़ा और परिवर्तन हुआ है। अब प्रतिभाकी अपेक्षा चतुरता और कारीगरीका मूल्य ज़्यादा आँका जाने लगा है। जिसका नतीजा यह हुआ कि खुनीसवीं सताब्दी तथा बीसवीं शताब्दीके आरंभकालके लेखकोंकी लिखी हुयी अत्यन्त श्रेष्ठ कहानियोंको भी कहानी-कलाकी दृष्टिसे फीका समझा जाने लगा है।

“अुर्जीसर्वी शताब्दीके श्रेष्ठ कहानी-लेखक अपनी रचनाओंमें मनोरंजकता, रहस्यमय कथानक, मानव-हृदयका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, गहरे यथार्थवाद और अनोखी सूझोंका समावेश करके कहानियोंके क्षेत्रमें यथेष्ट सफलता प्राप्त कर लेते थे। परन्तु कहानी-कलाके वर्तमान आलोचकोंकी रायमें अिन सारी बातोंकी महत्ता बहुत कम रह गयी है। अिन चीजोंको व्यर्थ या निस्सार तो आजका समालोचक भी नहीं कहता, परन्तु अब वह कहानीके कलेवर को अुसकी आत्मासे भी अधिक महत्त्व देने लगा है”—(चंद्रगुप्त विद्यालंकार)।

परन्तु आजके समालोचकका यह मत केवल सामयिक नवसर्जन-मनोवृत्तिका परिणाम है। अिस युगमें सबको सब समय कुछ नया गढ़नेका पागलपन प्राप्त किये हुअे है। कोअी आश्चर्य नहीं कि साहित्यके क्षेत्रमें अिस मनोवृत्तिने प्रतिभाको कारीगरीके सामने गौण बना दिया है। सही बात, जैसा कि चंद्रगुप्त विद्यालंकारजीने कहा है, यह है कि प्रतिभा नअी-नअी कारीगरियोंको जन्म देती है; वह सदा प्रधान रहेगी।

§ ६२. अुपन्यास हो या कहानी, अुसकी आलोचना करते समय हम अेक बात भूल नहीं सकते। वह यह कि अुपन्यास या कहानी, और कुछ हो या न हो, अेक कहानी या कथा जरूर है। कहानी या कथामें जो बातें आवश्यक हैं वे अुनमें अवश्य होनी चाहिये। कोअी अुपन्यास (या छोटी कहानी) सफल है या नहीं, अिस बातकी प्रथम कसौटी यह है कि कहानी कहनेवालेने कहानी ठीक-ठीक सुनाआ है या नहीं—अनावश्यक बातोंको तूल तो नहीं दिया है, जहाँ-जहाँ कहानी अधिक मर्मस्पर्शी हो सकती थी वहाँ-वहाँ अुसने अुसे अुचित रीतिसे समहाला है या नहीं, छोटी-छोटी बातोंमें ही अुलझकर तो नहीं रह गया, प्रसंगवश आअी हुअी घटनाका अितना अधिक वर्णन तो नहीं करने लगा जिससे पाठकका जी ही अुब जाय, और सौ बातकी अेक बात यह कि वह शुरूसे अन्ततक सुननेवालेकी अुत्सुकता जागृत रखनेमें नाकामयाब तो नहीं रहा। कहानीपन अिस साहित्यकी प्रथम शर्त है।

सभी कहानी नहीं कह सकते, कुछ लोगोंको यह गुण विधाताकी ओरसे मिला होता है। असलमें वे ही लोग अच्छे अुपन्यास-लेखक हो सकते हैं जो

कहानीपनके जानकार हैं । और शुरूसे अन्ततक श्रोताकी उत्सुकता बनाओ रखनेकी कलाके अस्ताद हैं ।

§ ६३. कोअी भी कहानी हो—यहाँ 'कहानी' नामक साहित्यिक रचनासे मतलब नहीं है, बल्कि लोक-प्रचलित मामूली अर्थमें व्यवहार हो रहा है,—असमें छः बातें ज़रूरी हैं :—

(१) वह कुछ प्राणियोंके जीवनकी घटना होती है; (२) अिन लोगोंका सम्बंध कुछ घटनाओं या व्यापारोंसे रहता है; (३) जिनके जीवनकी कथा सुनायी जा रही है वे आपसमें, जौर कभी खुद अपनेसे भी, बातचीत ज़रूर करते हैं; (४) कथाकी घटना किसी-न-किसी स्थान और किसी-न-किसी कालमें ज़रूर घटती है; (५) फिर कहनेवालेका अपना कोअी न कोअी ढंग ज़रूर रहता है । कोअी भी कहानी हो ये पांच बातें असमें रहती हैं, यह तय है ।

अेक छठी बात भी है जो आजकल अपन्यासमें प्रधान हो अुठी है । पुरीने ज़मानेमें सब समय असका रहना ज़रूरी नहीं समझा जाता था । यह (६) छठी बात है अुद्देश्य । अपन्यासमें ये छः बातें रहती हैं । शास्त्रीय भाषामें अिन्हें क्रमशः— (१) पात्र (२) कथा-वस्तु (३) कथोपकथन (४) देश-काल (५) शैली और (६) अुद्देश्य कहते हैं ।

अुपन्यासके अिन छः तत्त्वोंमेंसे कभी-कभी अेक या दो तत्त्व प्रधान हो जाते हैं । अुनकी प्रधानताके अनुसार अुपन्यासोंके भिन्न-भिन्न भेद हो जाते हैं । अुदाहरणके लिये, जिन अुपन्यासोंमें पात्रोंकी प्रधानता होती है वे चरित्र-प्रधान और जिनमें घटनाकी प्रधानता होती है अुन्हें घटना-प्रधान अुपन्यास कहते हैं । अन्यान्य बातोंकी प्रधानता भी अुनके नामपर ही प्रसिद्ध होती है । यदि हम अिन तत्त्वोंपर ध्यान देकर विचार करें तो मालूम होगा कि घटना अिन सबमें स्थूल वस्तु है और अुद्देश्य सबसे सूक्ष्म । अिन बातोंका अलग-अलग सुंदर निर्वाह अुपन्यासकारका आवश्यक गुण है परन्तु अिन सबके सांमंजस्यसे ही अुपन्यासकी कथा मनोहर होती है । अिनके अुचित सन्निवेशसे ही अुपन्यासका रसास्वाद सुकर होता है ।

§ ६४. कथा-वस्तुका ठोस और सुसंबद्ध होना परम आवश्यक है। कथाकी जातिको अग्रसर करनेके लिये और खुसके पात्रोंकी मनोवृत्तिको स्पष्ट करनेके लिये जितना आवश्यक है उससे कुछ भी अधिक होनेसे घटनागत औचित्य नष्ट हो जाता है। अद्देश्य-विशेषकी सिद्धिके लिये लेखक कभी-कभी ऐसी घटनाओंकी योजना करता है जो कथा-वस्तुके ठोसपनकी दृष्टिसे अकदम अनावश्यक और अप्रासंगिक होती हैं। 'प्रेमाश्रम' में सनातनधर्म-सभाका भड़कीला अधिवेशन कोअी बहुत आवश्यक नहीं था, वह तो सिर्फ ज़मींदारी-प्रथाकी कलंक-रेखाको और भी गाढ़ बना देनेके अद्देश्यसे लिखा गया था। उसके निकाल देनेसे मूलकथाका कोअी विशेष नुकसान नहीं होता। परन्तु लेखकको ज़मींदारी-प्रथा और बकलतके पेशेको बुरा सिद्ध करनेका मोह था और वे अिन लंबे प्रसंगोंको छोड़ नहीं सके।

मूलकथाको अज्ज्वल रूपमें प्रत्यक्ष करानेके लिये कभी-कभी ग्रंथकार अवान्तर घटनाओंकी सृष्टि करता है। वे अवान्तर घटनाओं दो प्रकारसे मूलकथाको अज्ज्वल और गतिशील बनाती हैं— (१) सहायकके रूपमें या (२) विरोधीके रूपमें। सुग्रीव और बालिका झगड़ा रामायणकी मूलकथाको अग्रसर करनेमें सहायक है, परन्तु 'गोदान' में होरीकी कहानीके साथ रायसाहब आदि अुच्चतर वर्गके लोगोंका जो समानान्तर घटना-प्रवाह चलाया गया है, वह असलिये कि किसानके जीवनको खुसके अकदम प्रतिकूल जीवनकी पृष्ठभूमिमें रखकर और भी अज्ज्वल रूपमें दिखाया जा सके।

घटनागत औचित्यका तकाजा है कि अवान्तर घटनाओं अस प्रकार मूल घटनाके साथ बुन दी जायँ कि पाठकको कहीं भी संदेह न होने पावे कि वह दूसरी कथा भी पढ़ रहा है। 'रंगभूमि' अक तरफ सूरदास आदि ग्रामीण पात्रोंकी कहानी है और दूसरी तरफ राजे और रओसोंकी। परन्तु लेखकने बड़ी सुस्तैदीसे दोनों कथा-वस्तुओंको अक-दूसरेसे झुलझा दिया है। 'गोदान' की कथा-वस्तुओंमें अितनी सफाअी नहीं है। अस प्रकार यद्यपि अद्देश्यकी सिद्धिके लिये लेखकको बहुत कुछ करनेका साधन और अधिकार प्राप्त है, परन्तु घटनागत औचित्यका निर्वाह भी कम जबाबदेहीका काम नहीं है।

§६५. औचित्य उपन्यासकी जान है। औचित्यका अभाव सर्वत्र खटकता है, पर उपन्यासमें उसका अभाव तो बहुत अधिक खटकनेवाला होता है। पात्रोंके चरित्र-चित्रणमें, सुनकी बातचीतमें, सुनके वख्तालंकारोंके वर्णनमें, सुनकी रीतिनीतिके उपस्थापनमें सर्वत्र औचित्यकी आवश्यकता होती है। सर्वत्र यह आवश्यक है कि उपन्यासकार पूरी आमानदारी और सचाबीसे काम ले। अतः सब बातोंमें देश, काल और पात्रके ज्ञानकी आवश्यकता रहती है। ऐतिहासिक उपन्यास लिखनेवाला लेखक उस कालके वातावरणसे बँधा होता है। वह कोभी भी ऐसी बात अगर लिख दे, जो उस ज़मानेमें संभव नहीं थी तो बात खटक जायगी और सहृदय पाठकके रसास्वादनमें बाधा उपस्थित होगी।

एक प्रसिद्ध उपन्यासकारने पठानकालकी एक घटनाको आश्रय करके उपन्यास लिखा है। उसमें अमरूदके पेड़ोंका वर्णन है। यह बात काल-विरुद्ध है; क्योंकि अमरूदका पेड़ पोर्तुगीजोंका ले आया हुआ है। उनसे पहले वह इस देशमें था ही नहीं। उपन्यासका एक पात्र खाटपर लेटे-लेटे पुस्तक पढ़ता है, यह भी काल-विरुद्ध बात है। उन दिनों न तो छापेके कलके कारण आधुनिक ढंगके उपन्यासही थे, न पुट्टीवाली पुस्तकें ही थीं, और न लेटे-लेटे पढ़नेकी प्रथा ही थी। उन दिनों खुले पत्रोंकी पुस्तकोंका ही प्रचलन अधिक था। इसी प्रकार देश-विरुद्ध बातें भी खटकनेवाली होती हैं।

अब लेखकने उत्तर-भारतके नगरोद्यानके वर्णन-प्रसंगमें वसन्त ऋतुमें शेफालिका पुष्पोंका वर्णन किया है। दक्षिण-भारतमें तो, सुना है, वसन्तमें शेफालिका खिलती है, पर उत्तर-भारतमें यह बात साधारणतः नहीं दिखती। पात्रगत औचित्यके निर्वाहमें प्रायः प्रमादका परिचय पाया जाता है। कभी-कभी बड़े-बड़े सत्राटोंके मुँहसे ऐसी बातें कटलवायी जाती हैं जो न उनके पद-मर्यादाके अप्रयुक्त होती हैं, और न चरित्र-विकासके। इस औचित्य-निर्वाहके लिये परम आवश्यक है कि उपन्यास-लेखक अपने देश और कालका पूरा जानकारी हो, और पात्रोंके चरित्र-विकासका समझनेवाला हो। वह जो कुछ कहे, उसका देखा-जाँचा और अनुभव किया हुआ हो। ऐतिहासिक उपन्यास-लेखककी आमानदारीकी भी यही कसौटी है।

कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक उपन्यास—लेखक प्राचीन कालकी बातोंको स्वयं कैसे देख सकता है ? उत्तर यह है कि ऐतिहासिक लेखकका वक्तव्य अतिहासकी उत्तम जानकारी तथा उस युगकी प्रामाणिक पुस्तकों, मुद्राओं और शिलालेखोंके आधारपर जौंची हुअी होनी चाहिये । ऐतिहासिक उपन्यासका लेखक मृत घटनाओं और अर्द्धज्ञान या नाममात्रसे परिचित व्यक्तियोंके कंकालमें प्राण-संचार करता है । कल्पना उसका प्रधान अस्त्र है । पर उस कल्पनाके साथ उसकी जानकारीका सामंजस्य होना चाहिये । अगर उसके कल्पनाके पोषक प्रमाण प्रामाणिक नहीं हुअे तो रसास्वादमें पद-पदपर बाधा पहुँचेगी । इस प्रकार विषयगत औचित्य और विषयगत भीमानदारी उपन्यासकी जान है । ये ही लेखकपर पाठकका विश्वास स्थिर करते हैं । जो उपन्यास-लेखक पाठकका विश्वास नहीं अर्जन कर सकता वह कभी सफल नहीं हो सकता ।

लेखककी भीमानदारीका अेक उत्तम उदाहरण सुभद्राकुमारी चौहानकी कहानियोंके स्त्री-पात्र हैं । अिनकी कहानियाँ बहुओं—विशेषकर शिक्षित बहुओं—के दुःखपूर्ण जीवनको लेकर लिखी गयी हैं । अुन्होंने किताबी ज्ञानके आधारपर या सुनी-सुनायी बातोंको आश्रय करके कहानियाँ नहीं लिखीं, बल्कि अपने अनुभवोंको ही कहानीके रूपमें रूपान्तरित कर दिया है । यही कारण है कि अुनके स्त्री-पात्रोंका चरित्र-चित्रण अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक हुआ है । अुनसे परिचय पाकर हम सजीव प्राणियोंके संसर्गमें आते हैं, जो अपने जीवनके अुन पहलुओंसे हमारा परिचय कराते हैं, जिन्हें हम बहुत कम जानते हैं । इस भीमानदारीके कारण ही अुनके पात्र अितने प्रभावशाली हो सके हैं ।

§६६. उपन्यासकारके पात्रोंकी सजीवता और स्वाभाविकता सदा अपेक्षित है । पाठकोंको अुनके संसर्गमें आते समय यह विश्वास बना रहना चाहिये कि वे सत्य हैं, कपोल-कल्पित नहीं । प्रेमचंदको “ कल्पनाके गढ़े हुअे आदमियोंमें ” विश्वास नहीं था । अुन्होंने लिखा है कि अिन गढ़े हुअे कल्पित पात्रोंके कार्यों और विचारोंसे हम प्रभावित नहीं होते । हमें इसका निश्चय हो जाना चाहिये कि लेखकने जो सृष्टि की है वह प्रत्यक्ष अनुभवोंके आधारपर की

गयी है, या अपने पात्रोंकी ज़बानसे वह खुद बोल रहा है। भिसीलिये कुछ समालोचकोंने साहित्यको लेखकका जीवन-चरित्र कहा है। आजकलका लेखक कहानी लिखता है पर वास्तविकताका ध्यान रखते हुये; मूर्ति बनाता है पर ऐसी जिसमें सजीवता हो; वह मानव-प्रकृतिका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन करता है, मनोविज्ञानका अध्ययन करता है और भिस बातका प्रयत्न करता है कि उसके पात्र हर हालतमें और हर मौकेपर भिस प्रकार आचरण करें जैसे रक्त-मांसका मनुष्य करता है।

पात्रोंका चारित्रिक विकास स्वाभाविक होना चाहिये। साधारणतः तरहसे उपन्यास-लेखक अपने पात्रोंके चरित्रका विकास करता है— (१) घटनाओंसे टकरा खिलाकर और (२) पात्रके भीतरके स्वाभाविक अंकुरके विशेष गुणको निमित्त बनाकर [दे० §८७]। प्रथमको बाह्य उपकरणमूलक विकास कहते हैं और दूसरेको आन्तरिक उपकरणमूलक। दूसरे प्रकारका विकास ही स्वाभाविक और हृदयग्राही होता है। घटिया श्रेणीके लेखक प्रायः भिस विषयमें असफल सिद्ध होते हैं। उपन्यासका नायक ही जब समस्त घटनाओंमें यांग स्थापित कर रहा हो और उन घटनाओंका आपसमें कोभी संबंध न हो तो ऐसे कथानकको शिथिल कथानक कहते हैं; परन्तु यदि घटनाओं जीवन्तरूपमें एक दूसरेसे गुँथी हों तो उस कथानकको संग्रथित कहते हैं।

§६७. कुछ उपन्यासकार आत्मकथाकी शैलीपर उपन्यास लिखते हैं, कुछ डायरीके रूपमें, कुछ चिट्ठियोंके रूपमें, कुछ बातचीतके रूपमें और कुछ पूर्वापर रूपमें कहानीको कह जानेके रूपमें। सर्वत्र औचित्यका ध्यान रखना आवश्यक है। आत्मकथा या डायरीके रूपमें लिखनेवालेपर केवल नायककी जानी हुयी बातोंके सहारे उपन्यासगत औत्सुक्य बनाये रखने तथा रस-परिपाक करानेकी जिम्मेदारी होती है। उसे कथा-प्रवाहके बढावके लिये बढी सावधानीसे ऐसी नयी-नयी घटनाओंका अल्लेख करन पड़ता है, जो पाठककी जानकारीमें संभव हों। चिट्ठियों और बातचीतके रूपमें लिखे गये उपन्यासोंमें लेखकको कुछ अधिक सुविधा प्राप्त होती है, पर बंधन वहाँ भी होता है। सबसे सहज शैली है उपन्यासकारका सर्वज्ञ बन जाना। दुनियाके बड़े बड़े उपन्यासकारोंने

अधिकतर इसी शैलीको अपनाया है। उपन्यासकार वहाँ सब जानता है—पात्रके भीतर क्या घट रहा है, उसके संपर्कमें आनेवाले क्या और कितना समझ रहे हैं, बाहर क्या घट रहा है अत्यादि सभी बातें उसे मालूम होती हैं। परन्तु सर्वज्ञताकी जवाबदेहीके कारण उसका कार्य बड़ा कठिन होता है। जो शैली सबसे सहज है उसमें अचिन्त्यका निर्वाह सबसे कठिन है।

§६८. अपने अहंशको सिद्ध करनेके लिये लेखक सारी घटनाओंका सन्निवेश करता है, पात्रोंके चरित्रोंको अभीष्ट दिशामें विकसित होने देता है, उनमें बातचीत कराता है और शैली-विशेषका आश्रय लेता है। कभी कभी वह जिस अहंशको लेकर लिखने बैठता है, अन्ततक सिद्ध नहीं होता। 'प्रेमाश्रम'में लेखकका अहंश प्रेम और भ्रातृभावके महान आदर्शका अंकित करना जान पड़ता है। ग्रंथकारने इसी अहंशसे कहानीका भित्ति-स्थापन किया था और चरित्रोंकी योजना की थी, पर अन्ततक जाकर यह अहंश दब गया है और अके दूसरा प्रतिपाद्य प्रबल हो गया है। यह दूसरा अहंश है जमीन्दारी-प्रथाकी अनिष्ट-कारिता। लेखक का भावात्मक आदर्श मौन हो गया है और अभावात्मक आदर्श प्रधान।

§६९. उपन्यासके भिन्न-भिन्न तत्वोंका अलग-अलग और मिलाकर भी किया हुआ सूक्ष्म चित्रण और सफलतापूर्वक निर्वाह ही उपन्यासको बड़ा नहीं बना देता, बड़ा बनाती है अहंशकी महत्ता और उसकी सफल सिद्धि। सब तत्व मिलकर पाठकके ऊपर जिस प्रभावकी सृष्टि करते हैं उस प्रभावके मापपर ही उपन्यासका महत्त्व निर्भर है। घटना, पात्र, कथोपकथन और शैली आदिका सफल निर्वाह उस प्रभावकी अपेक्षामें ही उत्तम हो सकता है। कभी उपन्यास-लेखकोंकी कृतियोंमें अिन तत्वोंका जोरदार सन्निवेश है, फिर भी उनसे पाठकके चित्तपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वे मानव-जीवनकी सञ्ज्ञान और गंदगीको मोहक बनाकर रखते हैं और इस प्रकार पाठकको अके प्रकारकी गंदी शराब मिलाकर मोहग्रस्त कर देते हैं। यह वस्तु कभी बड़ी नहीं हो सकती। भोजनकी उत्तमताकी कसौटी केवल परिपाक, सुगंधि और द्रव्योंका सन्निवेश मात्र नहीं है, और न खूब सुस्वाद होना ही उसकी कसौटी है। भोजन अच्छा वह है, जो अिन

सारे गुणोंके साथ ही साथ मनुष्यको स्वस्थ और सबल बनावे। जो भोजन परिणाममें मोहग्रस्त कर देता है या रोगी बना देता है या मृत्युका शिकार बना देता है, उसे अच्छा भोजन नहीं कह सकते। बुरे प्रभाववाला उपन्यास भी ऐसा ही है। मानव-जीवनकी गंदगियोंको मोहक और आकर्षक करके चित्रण करनेवाले उपन्यास विषाक्त भोजनके समान घातक हैं। सुप्रसिद्ध पत्रकार पं. बनारसीदास चतुर्वेदीने ऐसे उपन्यासोंको 'घासलेटी साहित्य' नाम दे रखा है।

§७०. प्रश्न हो सकता है अद्भुतकी महत्ताकी परख क्या है? मनुष्यका चरित्र जिस रूपमें आज परिणत हुआ है उसके कभी कारण हैं। नाना मनीषियोंने अिसे नाना रूपमें समझने-समझानेकी चेष्टा की है। अपने विशेष दृष्टिकोणका समर्थन तबतक नहीं किया जा सकता जबतक पूर्ववर्ती दृष्टिकोणसे उसकी श्रेष्ठता न प्रमाणित कर ली जाय। अिस प्रकार पूर्वमतको निरास करके नये मतके स्थापित करनेका नियम है। उपन्यास-लेखक दार्शनिक पंडितके अिस नियमको नहीं मानता; पर जीवनके प्रति उसका जो विशेष दृष्टिकोण है उसे वह कौशलपूर्ण ढंगसे स्थापित करते समय उस विशेष दृष्टिकोणके प्रति अपेक्षाका भाव पैदा कर देता है जो उसका अभिप्रेत नहीं है। अिस कार्यको वह बड़ी सावधानीसे करता है। हिंदीमें प्रेमचंदजी अिस कलाके अुस्ताद थे। उनकी कथानियोंमें जीवनको समझनेकी अनेक दृष्टियाँ मिलेंगी। अपने जीवनमें अुन्होंने मानव-जीवनको समझनेके लिये दृष्टिकोण बदले भी हैं, पर पुरानी दृष्टि-भंगियोंकी गलती दिखानेके बाद ही। 'कफ़न' नामक कहानी अिस बातका अेक अुत्तम अुदाहरण है। उसके पढ़नेसे जीवनकी व्याख्या करनेवाले अनेक मत निस्सार प्रतीत होते हैं। जन पड़ता है कि लेखकने अुन व्याख्याओंको सामने रखकर ही कहानी लिखी है।

धार्मिक व्याख्या यह है कि भगवान् संसारको अेक सामंजस्यपूर्ण व्यवस्थामें रखनेके लिये सदा प्रयत्नशील हैं। जो कोअी भी जीव, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी रूपमें दिख रहा है, वह अुसी रूपमें वहाँ आनेको बाध्य था। सब-कुछ किसी अदृष्ट शक्तिद्वारा पूर्वनिर्णीत है—पाप और पुण्य, धर्म और कर्म, अँच और नीच—सब। दूसरी अेक व्याख्या अेक प्रकारके नास्तिकोंकी है। प्रसिद्ध फ्रेंच पंडित देन अिस मतका पोषक बताया जाता है। जो कुछ भी, जहाँ-कहीं भी, जिस-किसी

रूपमें दिख रहा है वह तीन कारणोंसे हुआ है—जातिगत विशेषताके कारण, भौगोलिक, सामाजिक आदि परिस्थितियोंके कारण और ऐतिहासिक परंपराके भीतरसे आनेके कारण (दे० §१२-१३)। अिन तीनों बातोंको अलग-अलग अेकमात्र कारण मानकर भी जीवनकी व्याख्याओं की गयी हैं। अेक प्रकारके पंडित हैं जो स्वीकार करते हैं कि भौगोलिक परिस्थिति ही हमारे समस्त विधि-निषेध, आचार-विचार और दर्शन-काव्यके मूलमें हैं। अेक दूसरे पंडित समस्त सदगुणों और असदगुणोंके कारण आर्थिक परिस्थितियोंमें खोजते हैं। अुनके मतसे आर्थिक सुविधा या असुविधाही सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विधान-शृंखलाके वास्तविक मूल हैं। 'कफ़न'में अिस दृष्टिकोणकी ही प्रधानता है। धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणके प्रति अुसमें कौशलपूर्ण प्रतिवादके भाव हैं। आर्थिक दृष्टिकोणकी प्रधानता अिस कहानीमें कुछ अिस प्रकार अुपस्थित की गयी है कि मध्यमवर्गकी बहु-विचोषित करुणा और प्रेमकी कोमल भावनाओंका कोमलपन अलंयंत खोखला होकर प्रकट हुआ है।

अुत्तम लेखक समाजकी जटिलताओंकी तहमें जाकर अुसे समझता है और वहींसे अपनी विशेष दृष्टि पाता है। यदि कोअी लेखक केवल परंपरागत रूढ़ियोंको—सत् और असत्की निर्धारित सीमाओंको—बिना विचारे ही अुपन्यास या कहानी लिखने बैठता है तो वह बड़ी कृति नहीं दे सकता। अुसे हमेशा जटिलताओंको चीरकर भीतर देखनेका व्रत लेना पड़ता है। अैसा करनेके बाद यदि वह रूढ़ियोंको ही सत्य समझे तो कोअी हर्ज नहीं, परन्तु सच्चाअी अुसकी अपनी आंखों देखी होनी चाहिये। अिसके बिना वह बड़ी कृति नहीं पैदा कर सकता। साधारण पाठक भी अिस कसौटीपर अुपन्यास-लेखकके अुद्देश्य और जीवनके प्रति अुसकी विशेष दृष्टिभंगीकी महत्ता समझ सकता है।

§७१. अपने अुद्देश्यकी सिद्धिके लिये सभी लेखक अपनी तरफसे काट-छाँट और कमी-वेशी करके मानव-चरित्रको हमारे सामने रखते हैं। बात यह है कि कोअी कितना भी ब्यौरेवार जीवनको अुपस्थापित करनेका यत्न क्यों न करे, अुसे बहुत-सी बातें छोडनी ही पड़ेंगी। किसी आदर्माके जीवनमें अेक दिनमें जितने प्रयत्न और चेष्टाओं होती हैं अुनको अ्लिपि-बद्ध करनेसे पोथा तैयार हो सकता है।

असलिये लेखक अपने विशेष सुदेयकी सिद्धिके लिये और कथाको प्रवाहशील तथा मनोरंजक बनाये रखनेके लिये जितना भी आवश्यक है, उतना ही अंश लिपि-बद्ध करता है, बाकी जो तुच्छ हैं, जो अनायास-प्राप्त हैं, जो सुबा देनेवाली हैं, और जो अनावश्यक हैं, उन्हें छोड़ देता है। प्रश्न किया गया है कि क्या ऐसा करनेका सुसे अधिकार है ?

एक श्रेणीके साहित्यिक हैं जो चरित्रोंमें काट-छाँट और सजाव-बनावको दोष समझते हैं। ये लोग यथार्थवादी कहलाते हैं। ये लोग मानव-चरित्रको सुसके नम्ररूपमें—अर्थात् उसे बनाये-सजाये बिना—जैसा है वैसा ही रूप रख देनेके पक्षपाती हैं। सुनके चरित्रोंका प्रभाव पाठकपर बुरा पड़ेगा या भला असकी वे परवा नहीं करते। सुनके चरित्र अपने जीवनकी कमजोरियाँ और मजबूतियाँ, दोष और गुण, अमृत और विष दिखाते हुये अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। संसारमें स्पष्ट ही दिखता है कि सब समय सत्कर्मोंका फल शुभ ही नहीं होता और असत् कर्मोंका फल अशुभ ही नहीं होता, असलिये अिन यथार्थवादी साहित्यिकोंके चरित्र अच्छा काम करके भी ठोकरें खाते रहते हैं, और अपमानित-लांछित होते रहते हैं। अपने अनुभवोंके बलपर यथार्थवादीने देखा है कि संसारमें बुरे चरित्रोंकी ही अधिकता है और अच्छे-से-अच्छे समझे जानेवाले चरित्रमें भी दाग होता ही है। अिसीलिये यथार्थवाद मनुष्यके चरित्रको सुसके नम्ररूपमें सुपस्थित करता है। प्रेमचंदने यथार्थवादीके अिन गुणोंको ध्यानमें रखकर यह निष्कर्ष निकाला था कि यथार्थवाद हमें निराशावादी बना देता है। वह हमारी विषमताओं और खामियोंका नंगा प्रदर्शन है। वह मानव-चरित्रपरसे हमारा विश्वास सुठा देता है और पाठकको ऐसा बना देता है कि सुसके चारों ओर बुरा-ही-बुरा-ही दिखाओ देने लगती है। परन्तु सुन्हें भी असमें संदेह नहीं कि समाजकी कुप्रथाको दिखानेके लिये यथार्थवाद अत्यन्त सुपयुक्त है; क्योंकि असके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराईको दिखानेके लिये अत्युक्तिसे काम लें और चित्रको अुमसे कहीं काला दिखाओं, जितना कि वह वास्तवमें है। लेकिन जब वह दुर्बलताओंके चित्रणमें शिष्टताकी सीमा लाँघ जाता है, तब आपत्तिजनक हो जाता है।

दूसरा दल आदर्शवादी कहलाता है। वह ऐसे चरित्रोंकी सृष्टि करना पसंद करता है जो दुनियाकी कमजोरियोंसे भ्रष्ट होते हैं, जो प्रलोभनोंसे डिगंत नहीं और जिनकी सरलता दुनियादारी और कूट-बुद्धिसे दारकर भी पाठकको अञ्जत बनाती है। आदर्शवादी यह नहीं मानता कि मनुष्यमें छोटा अहंभाव है, जो उसे आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य प्रवृत्तियोंकी गुलामी करनेको ही प्ररोचित करता है, या जो सारी दुनियाको वंचित करके अपनेको समृद्ध बनानेमें रम पाता है वही वास्तव या यथार्थ है। उसके मतसे मनुष्यका सच्चा मनुष्यत्व उसका आत्मत्याग है, सत्यनिष्ठा है, कर्तव्यपरायणता है, और असीको वह बढ़ा करके चित्रित करता है। वह कठिन से-कठिन कष्टकी हालतमें भी अपने आदर्श पात्रके चेहरेपर शिकन नहीं पड़ने देता।

§७२. यथार्थवादके साथ रोमांसकी भी तुलना की जाती है। 'रोमांस' शब्द अंग्रेजीका है। साहित्यमें इसका प्रयोग दीर्घकालसे होता रहा है, इसलिये इस शब्दमें जो कुछ समझा जाता है उसमें बहुत परिवर्तन भी होता रहा है। साधारणतः रोमांस खुन साहस और प्रेम-मूलक कथाओंको कहा जाता है जो भारतीय साहित्यके गद्यकाव्यकी श्रेणीमें आते हैं (दे० §७१.) यही कारण है कि अंग्रेज पंडितोंने 'कादम्बरी', 'दशकुमारचरित' आदिको भारतीय रोमांस कहा है। रोमांसमें कल्पनाका प्राबल्य होता है और उसमें एक ऐसे वातावरणका निर्माण किया जाता है, जो इस वास्तविक दुनियाकी जटिलताओंसे तो मुक्त रहता है पर जहाँ मनुष्यके मनोरोग वैसे ही होते हैं जो इस दुनियाके होते हैं।

वस्तुतः रोमांसका वातावरण काव्यमय होता है और उसमें कल्पना और भावावेगका प्राधान्य होता है। यथार्थवादके यह ठीक विरुद्ध दिशामें जाता है। आदर्शवादके साथ यथार्थवादका अन्तर बुद्ध्युक्त है, परन्तु रोमांसके साथ इसका विरोध प्रकृति-गत है। किसी पश्चिमी पंडितने रोमांसके मूलमें जो सत्य है उसकी तुलना काव्यगत सत्यसे की है। यथार्थवाद तथ्यजगत्के बाहरकी चिन्ता नहीं करता। रोमांस मनुष्यके चित्तकी उस वास्तविक मनोवाग्छासे उत्पन्न है जो चिरन्तन है और सत्य है। काव्यगत सत्य ही रोमांसका भी सत्य है, क्योंकि रोमांस वस्तुतः गद्यकाव्य है।

§७३ उपन्यासकार परिस्थितियोंके सच्चे चित्रणसे विमुख नहीं हो सकता, परन्तु बुद्धि अहंश केवल फोटोग्राफी नहीं है, वह कलाकर है। यथार्थवाद चित्रका सिर्फ़ एक पहलू है। केवल सच्चा जीवन-चित्रण भी अपना नैतिक संदेश रखता ही है। परन्तु सच्चा चित्रण होना चाहिये। बहुत-से लेखक यथार्थवादके नामपर समाजकी उन गंदगियोंका ही चित्रण करते हैं जो समग्र रूपका एक नगण्य अंशमात्र है। यह यथार्थवाद नहीं हो सकता। यथार्थवाद भलेकी अपेक्षा करके बुरेके चित्रणको नहीं कहा जा सकता, फिर वह चित्रण कितना भी यथार्थ क्यों न हो। किसी प्रकार उस चीज़को आदर्शवाद नहीं कह सकते जो केवल कवि-समर्पित सदाचारके उपदेशका नामान्तर है। उपन्यासकारका व्यक्तिगत अहंश और मतवाद ठोस तथ्योंपर आधारित होता है। उसका प्रचारित नैतिक संदेश अिन तथ्योंसे विच्छिन्न होकर कलाके अँचे सिंहासनसे च्युत हो जाता है। जिस प्रकार समग्ररूपसे विच्छिन्न वुराअियाँ अपना मूल्य खो देती हैं, उसी प्रकार समग्रसे विच्छिन्न भले-भले उपदेश भी फीके हो जाते हैं। उपन्यासका उपदेश भी काव्यके अर्थकी भाँति व्यंग्य होना चाहिये। वाच्य होनेसे उसका मूल्य कम हो जाता है। इसीलिये प्रेमचंदजीने कहा है कि अच्छा उपन्यास वह है जहाँ यथार्थवाद और आदर्शवादका अुचित समन्वय हो।

§७४. केवल यथार्थ चित्रण उपन्यास या कहानीको महान् नहीं बनाता। हिन्दीकी एक प्रसिद्ध कवियित्रीकी कहानियाँ हमने पढ़ी हैं। उन कहानियोंके स्त्री-पात्र बड़े ही सच्चे और सजीव थे। अिन पात्रोंसे परिचय पानेके बाद मनुष्य बहुत-कुछ सोचने-समझनेका अवसर पाता है। परन्तु फिर भी उनकी कहानियोंमें समाजके प्रति सिर्फ़ एक नकारात्मक घृणाका भाव ही स्पष्ट हुआ है। पाठक यह तो सोचता है कि समाज किस प्रकार स्त्रियोंपर—विशेषकर शिक्षिता बहुओंपर—निर्दयताका व्यवहार कर रहा है, परन्तु उनके चरित्रोंमें कहीं भी वह भीतरी शक्ति या विद्रोह-भावना नहीं पायी जाती, जो समाजकी अस निर्दयतापूर्ण व्यवस्थाको अस्वीकार कर सके। कहीं भी वह मानसिक दृढ़ता नहीं पायी जाती, जो प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी दुःख पानेवालेको विजयी बना सके, जो स्वेच्छापूर्वक समाजकी बलिवेदीपर बलिदान होनेका प्रतिवाद कर सके। अिसके विरुद्ध उनके

चरित्र अत्यन्त निरुपाय-से होकर समाजकी आगे-शिखामें अपने-आपको होम देते हैं, और चुपकेसे दुनियाकी आँखोंसे ओझल हो जाते हैं ।

सवाल यह नहीं है कि सचमुच ही ऐसा होता है या नहीं । सचमुच ही होता होगा । किन्तु सचमुचका बहुत-कुछ होना ही बड़ी बात नहीं है । अक जहाज तूफानमें अलझता है । भयंकर संघर्षके बाद डूब जाता है । हजारों आदमी 'हाय-हाय' करते हुअे समुद्रके गर्भमें बैठ जाते हैं । अिन मरनेवालोंमें जहाजका वह बोर कप्तान भी है जो अन्तिम क्षणतक अदम्य आशा और अत्साह लेकर अपनी मारी विद्या और बुद्धिके बलपर तूफानसे जूझता रहा और निरुपाय यात्रियोंको बचा-लेनेके लिये जान लड़ाता रहा । मरना कप्तानका भी सदा है, और 'हाय-तोषा' मचानेवाले हजारों भीरु यात्रियोंका भी सही है । दोनों सममुच ही हुअे हैं और दोनोंही यथार्थ हैं । परन्तु अक यथार्थ मनुष्यमें आशा और विश्वास पैदा करता है और दूसरा यथार्थ निराशा और भीरुता । कोअी भी लेखक जब दुनियाके लाख-लाख मनुष्योंमेंसे किसी अकको चुनकर अपने ग्रंथका नायक बनाता है तो वह चुनता ही है । चुनाव तो असे करना ही पड़ेगा । तो फिर क्यों न असे यथार्थ चरित्र चुने जायँ जो यथार्थमें मनुष्य हों, मनुष्यका खाल ओढ़े हुअे कीबे-मकोड़े नहीं ?

मेरे कहनेका यह मतलब नहीं कि दुनियाके दुःख और अवसादसे आँख मूँद ली जाय । आँख मूँदनेवाला बड़ा लेखक नहीं हो सकता । परन्तु लेखकसे यह आशा करना बिल्कुल असंगत नहीं है कि वह दुःख, अवसाद और कष्टोंके भीतरसे अुस मनुष्यकी सृष्टि करे जो पशुओंसे विशेष है, जो परिस्थितियोंसे जूझकर ही अपना रास्ता साफ करता आया है, जो सत्य और कर्तव्य-निष्ठाके लिये किसीकी स्तुति या निंदाकी बिल्कुल परवा नहीं करता । अिन्हीं बातोंसे अपम्यास बड़ा होता है, काव्य महान् होता है, कहानी सफल कही जाती है ।

५७५. ऐसा करना असंभव नहीं है । शिवरानी देवीकी कहानियोंको अुदाहरणके रूपमें लिया जा सकता है । 'आँसूकी दो बूँदे' नामक कहानी अिस विषयमें पहले बताअी हुअी कहानियोंके विरोधमें रखी जा सकती है । अिस

कहानीमें सुरेश नामक युवककी बेवफाई कनक नामक लड़कीके सर्वनाशका कारण नहीं हो जाती । कनक अपने लिये रास्ता खोज लेती है । यह रास्ता खेवाका है । अगर उसका प्रेम नकारात्मक होता—अर्थात् उसमें लोभकी जगह विराग, क्रोधके स्थानपर भय और आश्चर्यकी जगह संदेह, सामाजिकताके बदले ऐकान्त-निष्ठा और संगमेच्छाकी जगह ब्रीहिका अुदय होता तो वह भी शायद आत्मघात कर लेती ।

मनोविज्ञानके पंडित मनुष्यके दो प्रकारके चरित्रोंकी बात बताते हैं,— नकारात्मक या 'नेगेटिव' और धनात्मक या 'पॉजिटिव' लोभ, क्रोध, आश्चर्य, सामाजिकता और संगमेच्छा धनात्मक गुण हैं और इनके स्थानोंमें क्रमशः विराग, भय, संदेह, ऐकान्तनिष्ठा और ब्रीहा नकारात्मक । पहले विश्वास किया जाता था कि स्त्रियोंमें नकारात्मक गुण अधिक होते हैं और पुरुषोंमें धनात्मक गुण । आधुनिक कालके प्रयोगोंसे इस विश्वासको बहुत अधिक जोर देने योग्य नहीं समझा जा सकता । यह माना जाने लगा है कि प्रत्येक मनुष्यमें इन दोनों प्रकारके गुणोंका मिश्रण होता है । जिसमें धनात्मक गुण अधिक होते हैं उसीका चरित्र आशा और विश्वासका संचार कराते हैं

वस्तुतः कोई भी लेखक अेक व्यक्तिमें केवल अेक ही प्रकारके गुण दिखाकर आजके युगमें पाठकका विश्वास-पात्र नहीं बना रह सकता, क्योंकि मनुष्य-चरित्र दोनोंका मिश्रण है । मनोविज्ञानकी प्रयोगशालामें यह बात सिद्ध हुई है कि कमजोर-चरित्रका आदमी जिस प्रकारके बलिष्ठ-चरित्रके संसर्गमें आता है उसी प्रकारका हो जाता है । अपन्यासके जीवन्त और बलिष्ठ पात्र पाठकोंके सहचर हैं । नाना विपत्तियों और कष्टोंके भीतरसे गुजरती हुई उनकी कर्तव्य-निष्ठा और सच्चा मनुष्यत्व पाठकोंको बल देता है, परन्तु उनकी विद्रिय-परायणता, कूटबुद्धि और कुटिल कर्म पाठकोंको दुर्बल और निरुत्साह बना देते हैं । परिस्थितियोंसे आँख मूँदना आदर्शवाद नहीं है । वस्तुतः सच्चा आदर्शवादी सच्चा यथार्थवादी होता है, वह मनुष्यका मनुष्यत्व पहचानता है और प्राणधर्मका रहस्य समझता है ।

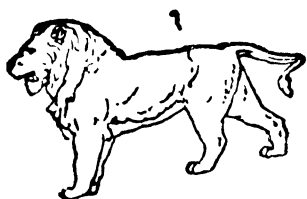
§७६. शायद यह बात सुननेमें आश्चर्यजनक मालूम दे कि मानवताके सच्चे स्वरूप और प्राणधर्मको पहचाननेवाला लेखक यदि चरित्र-चित्रणमें छोटी-मोटी गलतियाँ भी करे तो भी वह बड़ी कृति दे सकता है। हम शुरूसे ही इस प्रसंगमें 'चित्रण' शब्दका व्यवहार करते आये हैं। यह शब्द चित्र बनानेकी विद्यासे लिया गया है; उपन्यास या कहानीके प्रसंगमें इसका प्रयोग लाक्षणिक है। उपन्यास या कहानीमें हमें जो मानव-जीवन प्राप्त होता है उसे हम चित्रकी भाँति प्रत्यक्ष देखते हैं। इसीलिये बार-बार साहित्यमें इस शब्दका प्रयोग होता है। यदि आपकी बातको हम चित्रकी भाषामें कहनेका प्रयत्न करें तो वह कुछ इस प्रकार होगा—किसी मनुष्यके चित्रमें यदि उसके हाथ-पैर ठीक-ठीक चित्रित न हों और फिर भी यदि आदमीका प्राणधर्म ठीक-ठीक चित्रित किया जा सका हो, तो चित्र बड़ी कृति बन सकता है। आप-आपसे यह कथन बड़ा विचित्र मालूम पड़ता है। आदमीके हाथ-पैर दुरुस्त नहीं और फिर भी वह चित्र बड़ा हो सकता है। मनुष्यका अन्यान्य जीवोंसे जो वैशिष्ट्य है वही मनुष्यका प्राणधर्म है—अर्थात् उसीको आश्रय करके मनुष्य मनुष्य बना हुआ है। यदि वह धर्म ठीक है तो यह कोअी आवश्यक नहीं कि इसके अंग-प्रत्यंग ठीक ही हों—हों तो बहुत अच्छा, न हों तो कोअी बात नहीं। जायसी कुरूप थे, सूरदास अंधे थे, चौरंगीनाथ लंगड़े थे; फिर भी कौन कहेगा कि ये सिद्ध पुरुष नहीं थे ?

अब चित्रके अुदाहरणसे समझनेपर यह बात ज़्यादा आसान हो जायगी। इस विषयमें हम भारतवर्षके श्रेष्ठ शिल्पाचार्य श्री नंदलाल बसु महाशयके लेखसे अब सुद्धरण यहाँ संग्रह कर रहे हैं। बसु महाशयने रवीन्द्रनाथके चित्रोंकी आलोचना करते हुअे अब बार कहा था कि सुनके चित्र यथार्थ तो होते हैं पर यथार्थवादी नहीं होते। जब बहुत-से पाठकोंने सुनसे इस बातको स्पष्ट करनेका अनुरोध किया तो सुनहोंने लिखा —

“पश्चिमी देशोंमें चित्रणीय वस्तुओंका अितना सूक्ष्म अध्ययन हुआ कि अब शिल्प-संप्रदाय वस्तुको जैसा वह है वैसा ही दिखानेपर अब गया। यही यथार्थवादिता (या 'रियलिस्टिक') है। किन्तु अब सिद्ध अंकित करनेवाला

चित्रकार सिंहके सभी अंगों और चेष्टाओंको अंकित करके भी—अर्थात् सिंहकी बनावटके प्रति पूर्ण आमानदार रहकर भी—एक ऐसा सिंह बना दे सकता है जिसमें वह शौर्य, पराक्रम और अकुतोभय भाव नहीं आ सकता, जो सिंहत्वकी जान है। इसका यह अंकित चित्र यथार्थवादी तो होगा, पर यथार्थ नहीं। दूसरी तरफ़ एक शिल्पी सिंहके अंगोपांगोंके चित्रणमें ग़लती करके भी यदि ऐसी सिंह-मूर्ति बना देता है, जिसे देखकर दर्शकके मनमें सिंहत्वका भाव जग उठे, तो वह यथार्थवादी न हो करके भी यथार्थ सिंह अंकित कर सका है। रवीन्द्रनाथ बिस्मि श्रेणीके शिल्पी थे।

§७७. 'औसत शिक्षित व्यक्तिको ऊपरकी बात ज़रा अज़ाब लगेगी। सिंहकी बनावट ठीक होनेपर भी क्यों सिंह ग़लत हो गया और बनावटमें ग़लती होनेपर भी क्यों ठीक हो गया, यह बात ऊपर-ऊपरसे पहेली-जैसी लगती है। इस बातको यों समझा जाय :—



ऊपरके चित्रोंमें नं० १ एक आधुनिक कलाकारका बनाया हुआ सिंह है। इसमें सभी अंग ठीक-ठीक चित्रित हुए हैं। इसलिये इसे 'रियलिस्टिक' कहा जा सकता है। चित्र नं० २ एक बहुत पुराने असीरियन कलाकारका अंकित सिंह है। इसका अंग-विन्यास सुतना यथार्थ नहीं है जितना प्रथम चित्रका है। फिर भी इसमें सिंहत्व पूर्ण-मात्रामें विद्यमान है। इस चित्रको

देखनेवालेके मनमें सिंह-संबंधी सभी गुण जाग्रत हो जाते हैं। इसीलिये यह 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' है। ऐसा यह इसलिये हुआ है कि सिंहत्वका जो छन्द है वह इसमें वर्तमान है। यह 'छन्द' नं० ३ के चित्रमें दिखाया गया है। अनेक परिश्रम और अनुधावनके बाद कलाकारोंने इस 'छन्द' का आविष्कार किया है। यही वह अरूप (abstract) धर्म है जो वस्तुके बिना भी सत्य है। रवीन्द्रनाथके चित्रोंमें यह धर्म वर्तमान है। वह कभी वस्तुके साथ है और कभी वस्तुसे अलग। इसी 'छन्द' को यथार्थताके कारण अनेक चित्र 'रियलिस्टिक' न होकर भी 'रियल' हैं।" [हिन्दी 'विश्वभारती पत्रिका', खंड १, अंक १]

§७८. कुछ लोग उपन्यासोंको तीन श्रेणीका मानते हैं—घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान। रटवेंसन इसी मतके उपस्थापक थे। वे घटना-प्रधान उपन्यासको ही सबसे उत्तम समझते थे। उनके मतसे उपन्यास-कारकी सबसे बड़ी सफलता यह है कि वह एक ऐसी मायाकी सृष्टि कर दे और रोचक परिस्थितियोंको ऐसे मोहक ढंगसे उपस्थित कर दे कि पाठकोंकी कल्पना उससे आकर्षित हुअे बिना न रह सके—उपन्यास पढ़ते समय पाठक अपनेको घटनाओंमें तन्मय कर दे और पात्रोंके साथ ऐकाकार कर दे, ताकि पात्रोंके साहसपूर्ण कृत्योंको अपना-सा समझकर वह उनमें रस लेने लगे।

स्टीवेंसनका यह मत सर्वांशमें ग्राह्य नहीं है, यह हम आगे चलकर समझ सकेंगे; पर इसमें सन्देह नहीं कि घटनाओंका मनोरंजक सज्जिवेश उपन्यासकारका बड़ा भारी गुण है।

(१) हिंदीमें नाना प्रकारके घटना-प्रधान उपन्यास लिखे अे हैं। सबसे प्रधान और प्रथम प्रबल देवकीनंदन खत्रीके तिलस्मी उपन्यास हैं, जिनमें अय्यारोंके घात-प्रतिघातमूलक घटनाओंका सज्जिवेश बड़ी तत्परताके साथ किया गया है। 'अिन उपन्यासोंमें अद्भुत तिलस्मोंका मिश्रण है, परन्तु ये घटना-प्रधान उपन्यास ही हैं। यद्यपि अय्यारोंके चरित्रगत गुण भी अिनमें कम आकर्षक नहीं हैं, तथापि घटनाओंकी प्रधानता अिनमें स्पष्ट है। इसी प्रकार डकैती आदिके साहसिकतापूर्ण कथानक, जासूसी उपन्यास, प्रेमाख्यान,

ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास केवल घटनाओंके सन्निवेशसे ही मोहक बने हैं। (२) हिंदीमें प्रेमचंद, सुदर्शन और 'कैशिक' आदि लेखकोंकी कहानियाँ और उपन्यास चरित्र-प्रधान श्रेणीमें पड़ेंगे, और (३) 'प्रसाद' का 'तितली' और 'ककाल', शिवनंदन सहायका 'सौंदर्योपासक' तथा 'हृदयेश' की कहानियाँ भाव-प्रधान श्रेणीमें पड़ेंगी।

§७९. जिन्हें भाव-प्रधान उपन्यास कहकर ऊपर सुल्लेख किया गया है उनमें बहुत कुछ पुरानी कथा-आख्यायिकाओंके गुण हैं। उनमें भाषाकी मनोहारिता, अलंकार-योजना, पद-लालित्य और भावावेग अितनी अधिक मात्रामें हैं कि सुन्हें गद्य-काव्य कहना ज़्यादा सुचित होगा। उपन्यास विशुद्ध गद्य-युगकी उपज है। उनमें भाषाकी गद्यात्मकता और सहज भाव अपेक्षित है। अिन उपन्यासोंमें वह बात नहीं है।

हिंदीके अेक प्रवीण विद्वान्ने उपन्यासको गद्य-काव्यका ही अेक भेद माना है। किन्तु यह बात आंशिक रूपमें ही सत्य है। पुराने ज़मानेके 'वासवदत्ता', 'दशकुमार-चरित', 'कादंबरी' आदि काव्योंसे ये आधुनिक उपन्यास भिन्न श्रेणीके हैं। उपन्यास नये यंत्र युगकी उपज हैं। नये यंत्र-युगने जिन गुण-दोषोंको उत्पन्न किया है उन सबको लेकर यह नया साहित्यांग अवतीर्ण हुआ है। छापेके कलने अिनकी माँग बढ़ाअी है और अुसाने अुनकी पूर्तिका साधन बताया है।

यह ग़लत धारणा है कि उपन्यास और कहानियाँ संस्कृतकी कथा-आख्यायिकाओंकी सीधी सन्तान हैं। ऊपर जिन भाव-प्रधान उपन्यासोंकी चर्चा हुआ है, अुनकी रचनाके मूलमें संभवतः पुरानी कथा-आख्यायिकाओंका आदर्श था, परन्तु शीघ्र ही यह भ्रम टूट गया कि शब्दोंमें झंकार देकर गद्य-काव्य लिखना और आधुनिक ढंगके उपन्यास लिखना अेक ही बात है। झंकार कविताका बड़ा भारी गुण है, परन्तु उपन्यासमें वह थोड़ी मात्रामें ही काम देता है। चूँकि उपन्यास और कहानियाँ विशुद्ध गद्य-युगकी उपज हैं, अिसलिये अुनकी प्रकृतिमें गद्यका सहज, स्वाभाविक प्रवाह है। अिस नवीन साहित्यांगका पुराने गद्य-काव्योंसे जो प्रधान अंतर है, वह आदर्श-गत है। यंत्र-युगने पश्चिममें

जिस व्यावसायिक क्रान्तिको जन्म दिया उसके कभी फलोंमेंसे एक है वैयक्तिक स्वाधीनता। यह वैयक्तिक स्वाधीनता ही उपन्यासोंका आदर्श है और काव्य-कालका रूढ़ि-निर्धारित और परंपरा-समर्थित सदाचार कथा-आख्यायिकाओंका आदर्श है। उपन्यासमें दुनिया जैसी है वैसी ही चित्रित करनेका प्रयास होता है। जिस वास्तविकताके भीतरसे ही उपन्यासकार अपना आदर्श ढूँढ़ निकालता है (दे० §७०-७१)। कथा और आख्यायिकामें कवि कल्पनाके बलपर वास्तविक दुनियासे भिन्न एक नयी दुनिया बनाता है।

§८०. उपन्यास और काव्यमें यह मौलिक अन्तर है कि उपन्यास मौजूदा हालतको भुलाकर भविष्यकी कल्पना नहीं कर सकता, जब कि काव्य वर्तमान परिस्थितिकी संपूर्ण अपेक्षा करके अपने आदर्श गढ़ सकता है। यही कारण है कि उपन्यासकार वर्तमानपर जमा रहता है। प्राचीन ऐतिहासिक कथानककी रचनाके समय भी वह वर्तमान कालकी जानकारीयोंके बलपर ही अपना कार-बार चलाता है और जासूसी तथा वैज्ञानिक कथावस्तुको सम्हालनेमें भी आधुनिक जानकारीयोंकी जहाँतक पहुँच है, उसके आधारपर अपनी कल्पनाओं और संभावनाओंकी सृष्टि करता है। वह कविकी भाँति जमानेके आगे रहनेका दावा नहीं करता। काव्य-दुनियाकी छोटी-मोटी तुच्छताओंको भी महिमा-मंडित करके प्रकाशन करता है, जो कुछ है उसे सजाकर, सँवारकर सुंदर और महत् बनानेकी साधना करता है।

वस्तुतः जहाँ कहीं भी तुच्छताको महिमा-मंडित करके प्रकाशित करनेका प्रयत्न है वहाँ उपन्यासकार कविका काम करता है। एक अदाहरण लिया जाय :—

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें सर्वत्र काव्यका सुर ही प्रधान हो उठा है। उन्होंने जान-बूझकर एक उपन्यास ऐसा लिखा है जिसमें, आलोचकोंका मत है कि, कवित्वको दबकर आपन्यासिकत्व प्रधान हो उठा है। इस उपन्यासका नाम है 'भालम्ब'। इसमें नायिका बीमार पड़ जाती है और नायक किसी और लड़कीके साथ काम-काजमें लग जाता है। नायिकाको भीर्ष्या होती है। ज्यों-ज्यों वह मृत्युके निकट पहुँचती

जाती है ल्यों-त्यों खुसकी भीर्ष्या बढ़ती जाती है। अपने देवरके समझानेसे वह संकल्प करती है कि मरते समय वह अपनी समस्त स्वार्थ-बुद्धिको जलांजलि देकर अपने हाथों खुस लड़कीको पतिको सौंप जायगी। ऐसा मौका आता है। खुस मौकेपर मरती-मरती यदि वह कह देती कि 'हे प्रिय, मैंने अपना सर्वस्व तुम्हे दिया है, इस बालिकाके साथ अपना मान-अभिमान सब कुछ तुम्हें निःशेष भावसे देकर विदा लेती हूँ', और प्यारसे खुस लड़कीका हाथ पतिके हाथोंमें रखकर दम तोड़ देती तो यह बात कवित्वका अंक सुंदर सुदाहरण हो जाती। पर मौका आनेपर वह ऐसा नहीं करती। अपनी तुच्छ भीर्ष्याको अन्ततक वह अपने त्यागकी महिमासे महिमा-मंडित नहीं कर पाती। लड़कीको देखकर वह और भी भीर्ष्यासे जल झुठती है और दुर्वाच्य कहती हुंसी और मरनेके बाद भी खुसे जलाती रहनेका अभिशाप देती हुंसी दम तोड़ देती है। इस प्रकार कवित्वका वातावरण छिन्न-विच्छिन्न हो गया है और उपन्यासकारकी वास्तव-प्रियता प्रधान हो झुठी है।

§८१. उपन्यास और कहानियाँ आजके ज़मानेमें बहुत शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक साहित्यांग समझे जाते हैं। इनके लेखकका अपना अंक ज़बर्दस्त व्यक्तिगत मत होता है, जिसकी सच्चाईके विषयमें लेखकका पूरा विश्वास होता है। वैयक्तिक स्वाधीनताका यह सर्वोत्तम साहित्यिक रूप है। 'घासलेटी' उपन्यासके लेखकका अपना कोई मत नहीं, जो अंक ही साथ उसका अपना भी हो और जिसपर उसका अखण्ड विश्वास भी हो। इसीलिये 'घासलेटी' लेखक ललकारे जानेपर या तो भाग खड़ा होता है या विरुद्ध होकर गाली-गलौजपर उतर आता है। वह भीड़के आदमियोंको अपनी नज़रके सामने रखकर लिखता है, पर अपने प्रचारित मतपर उसे खुद विश्वास नहीं होता।

प्रेमचंदका अपना मत है जिसपर वे पढ़ाईके समान अविचलित खड़े हैं। इस अंक महागुणके कारण नाना विरोधोंके होते हुए भी जैनंद्रकुमारको साहित्यमें अपना स्थान बना लेनेसे कोई नहीं रोक सका। उपन्यासकार उपन्यासकार है ही नहीं, यदि उसमें अपनी विशेष दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टि-

पर उसका दृढ़ विश्वास न हो। महत्त्वपूर्ण उपन्यास या कहानी केवल अवसर-विनोदनका साधन नहीं हैं। वे असलिये महत्त्वपूर्ण होती हैं कि उनकी नाँव मजबूतीके साथ उन वस्तुओंपर रखी हुयी होती है जो निरन्तर गंभीर भावसे और निर्विवाद रूपमें हमारी सामान्य मनुष्यताकी कठिनाइयों और द्वंद्वोंको प्रभावित करती है। हम उपन्यासकारके रचना-कौशल, घटना-विकासकी चतुराई, पात्रोंके सहज-स्वाभाविक विकासकी सचाई और, अपने निजी दृष्टिकोणकी भीमानदारीके कारण मनुष्यमात्रके साथ अेकात्मता अनुभव करते हैं, दूसरोंके दुःख-सुखमें अपनापन पाते हैं, और इस प्रकार हमारा हृदय संवेदनशील और आत्मा महान् बनता है। हम पहले ही लक्ष्य कर चुके है कि यह अेकात्मताकी अनुभूति साहित्यका चरम साध्य है।

७. नाटक

§८२. हमने उपन्यासको समझनेका प्रयत्न किया है। अब नाटकको समझने जा रहे हैं। यह क्रम कालक्रमकी दृष्टिसे उल्टा है। पहले नाटकका आविर्भाव हुआ था और उसके बहुत बाद जाकर उपन्यासका हुआ। इस तरह कालक्रमके हिसाबसे नाटककी विवेचना ही पहले करनी चाहिये थी, उपन्यासकी बादमें। प्रायः ही आलोचक लोग इसी क्रमका पालन करते हैं। इसका कारण यह है कि उपन्यास असलमें नाटककी अपेक्षा शिथिल कथानकका साहित्य है। नाटक अधिक ठोस कथानकका साहित्य है। इसलिये उपन्यासका विश्लेषण सहज और अल्पायास-ग्राह्य होता है। दूसरे, नाटक उपन्यासकी भांति केवल पुस्तकगत साहित्य नहीं है। वह रंगमंचकी दृष्टिमें रखकर लिखा गया होता है— अर्थात् केवल पुस्तकमें लिखी हुई बातें ही संपूर्ण नाटक नहीं हैं। वे अपने आपकी पूर्णताके लिये रंगमंचकी अपेक्षा रखती हैं। उपन्यासमें यह बात नहीं होती; वह अपना रंगमंच अपने पात्रोंमें लिये फिरता है। तीसरे, उपन्यास-लेखक जानता है कि उसका पाठक अपनी सुविधा और अवसरके मुताबिक थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ सकता है। इसलिये वह किसी संकीर्णतामें बँधा नहीं रहता; जब कि नाटकका लिखनेवाला लेखक अच्छी तरह जानता है कि उसका नाटक दो या तीन घंटके भीतर द्रष्टाको देख लेना है। और इसीलिये आकार और विस्तारके मामलेमें वह संकीर्ण सीमामें बँधा रहता है। उसकी यह मनोवृत्ति नाटकको जहाँ अधिक ठोस बना देता है वहाँ अनेक कौशल ग्रहण करनेको बाध्य कर देती है। इसीलिये नाटक उपन्यासकी अपेक्षा अधिक जटिल होता है। एक चौथा कारण यह है कि उपन्यासकारको अपने पात्रोंके भीतरी मनोभावोंको खोलकर बता देनेकी स्वाधीनता प्राप्त रहती है, जो नाटककारको नहीं रहती। इसलिये नाटक-लेखक जहाँ अपने उपस्थापनमें संक्षिप्त और ठोस होता है वहाँ अनेक बंधनोंसे जकड़ा भी रहता है। इस पराधीनताके कारण उसे अनेक कौशल अवलंबन करने पड़ते हैं। अनेक भिन्न-भिन्न कारणोंसे भिन्न-भिन्न कौशलोंके अवलंबनके कारण उपन्यासकी अपेक्षा नाटक अधिक ठोस

होता है। इसलिये यह मामूली कायदा-सा हो गया है कि पदले उपन्यासकी विवेचना कर लेनेके बाद ही नाटककी विवेचना की जाय।

§८३. जिन पंडितोंने पुराने शास्त्रोंका अध्ययन किया है उनका अनुमान है कि बहुत पहले भारतवर्षमें जो नाटक खेले जाते थे उनमें बातचीत नहीं हुआ करती थी। वे केवल नाना अभिनयोंके रूपमें अभिनीत होते थे। अब भी संस्कृतके पुराने नाटकोंमें इस प्रथाका भग्नावशेष प्राप्य है। जिन नाटकोंमें जब कोई पात्र कुछ करनेको होता है तो उसका निर्देश इस प्रकार दिया जाता है—‘अमुक पात्र अमुक कार्यका अभिनय कर रहा है’ [शकुन्तला वृक्षसेचनंनाट्यति] यह इस बातका सबूत बताया जाता है कि नाटकोंमें बातचीत अतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं मानी जाती थी जितनी किया। डिंडेरट नामक पश्चिमी पंडितके बारेमें प्रसिद्ध है कि उसकी यह अद्भुत आदत थी कि नाटक देखने समय कान बंद कर लेता था। ऐसा करनेसे वह नाटकीय क्रियाको बातचीतसे अलग करके देख सकता था और नाटककी उत्कृष्टताको ठीक-ठीक समझ सकता था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटकमें क्रिया ही प्रधान होती है। इसका मतलब यह हुआ कि नाटककी पृथ्वीमें जो कुछ छपा होता है उसकी अपेक्षा वही बात ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होती है जो छपी नहीं होती और सिर्फ रंगभूमिमें देखी जा सकती है। नाटकका सबसे प्रधान अंग उसका क्रिया-प्रधान दृश्यांश ही होता है और इसीलिये पुराने शास्त्रकार नाटकको दृश्यकाव्य कह गये हैं।

§८४ उपन्यासमें जितने तत्त्व होते हैं वे सभी (दे० §६३) नाटकमें भी होते हैं। जिन तत्त्वोंके सम्मिलित जोरसे ही नाटक क्रिया-परायण होती है। इसीलिये उसमें भी कथावस्तु अतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना उपन्यासमें, परन्तु, जैसा कि शुरूमें ही बताया गया है, नाटककार हर मामलेमें बहुत-से बंधनोंसे बंधा रहता है। इसीलिये वह बड़ी सावधानीसे उन कम-से-कम घटनाओंका सन्निवेश करता है जिनके बिना काम चल ही नहीं सकता। यदि वह ऐसे बेकार दृश्योंकी अवतारणा करे, जो नाटकमें कोई अहंसा ही नहीं

सिद्ध करते, तो उसका नाटक शिथिल हो जायगा। शैथिल्य नाटकका बड़ा भारी दोष है। परन्तु हर बातमें नाटककारको स्टेजकी सुविधा-असुविधाका ध्यान रखना पड़ता है। आजकलके वैज्ञानिक आविष्कारने स्टेजमें ऐसी अनेक सुविधाएँ ला दी हैं, जिनके कारण आजके नाटककारका प्राचीन नाटककी अपेक्षा कम घटनाओंके सन्निवेशसे भी काम चल जाता है। कालिदास और भवभूतिके नाटकोंमें ऐसे बहुत-से दृश्य अवतरित किए गये हैं, जिन्हें आजका नाटककार छोड़ देता और स्टेजमें ऐसा निर्देश दे देता, जिससे वे बातें बिना कहे ही सहृदय श्रोताकी समझमें आ जाती। अब्सन आदि आधुनिक नाटककार उस प्रकारके घटना-बहुल दृश्योंकी अवतारणा न करके एक खास बातपर घटनाओंको इस प्रकार केंद्रित करते हैं कि उनका अद्भुत प्रतिकूलित हो जाता है। इसलिये नाटकाय कथावस्तु औपन्यासिक कथावस्तुसे ज्यादा कठिन होती है

अस (नाटकके) कथावस्तुके दो अंग होते हैं—दृश्यांश और सूच्यांश। अर्थात् अंक तो वह वस्तु जो नाटककी क्रियाको अग्रसर करती है और सहृदयको रसानुभूतिके अनुकूल करती है। नाटककारको यह समझना चाहिये कि कथावस्तुमें कौन-सा दृश्यांश होगा और कौन-सा सूच्यांश। हिंदीके अंक नामी नाटककारने रामके बन जाते समय नागरिकोंका रोकना, वशिष्ठका व्याख्यान देना आदि बातें बड़े आडंबरके साथ दृश्य-रूपमें अंकित की हैं, जब कि कैकेयीका वर माँगना और राजाका शोकाकुल होना केवल नागरिकोंके बातचीतके रूपमें सूचित भर कर दिया है। स्पष्ट ही वे कथाके उस मार्मिक अंशको तरह दे गये हैं, जो सहृदयके रसबोधको जागृत करता और अभिनेताके अभिनय-कौशलका कसौटी होता। अगर कालिदासने दो नागरिकोंमें बातचीत कराके यह सूचना दे दी होती कि शकुन्तलाको राजा दुष्यन्तने अस्वीकार कर दिया, तो श्रुतका 'अभिज्ञान शाकुन्तल' अत्यन्त दृढ़ हो जाता। इसलिये नाटकके कथावस्तुका विचार करते समय देखना चाहिये कि नाटककार जिन बातोंको रंगमंचपर अभिनीत होते दिखाना चाहता है वे मार्मिक अंश हैं या नहीं, और पूर्ववर्ती या परवर्ती घटनाओंकी अनुभूतिको गाढ़ करनेमें कोअी सहायता पहुँचा रही है या नहीं।

§८५. पुराने ज़मानेके नाटकोंमें केवल सूचना देनेके लिये पाँच प्रकारके कौशलका निर्देश है। अन्हें अर्थोपस्थापक कहा गया है। प्रधान दो हैं—‘प्रवेशक’ और ‘विष्कम्भक’। ‘विष्कम्भक’ या ‘विष्कम्भ’ सिर्फ दो पात्रोंमें (जो कभी भी उत्तम श्रेणीके नहीं होते) बातचीतके द्वारा भावी या अतीत अर्थकी सूचना देनेके लिये अंकके आरंभमें जोड़ा जाता है। जब असके पात्र मध्यम श्रेणीके होते थे और शुद्ध (संस्कृत) भाषामें बात करते थे तो असे ‘शुद्ध विष्कम्भक’ कहा जाता था। और जब अुनमेंसे अेक निम्न-श्रेणीका होता था और लौकिक (प्राकृत) भाषा बोलता था तो अुसे ‘मिश्र विष्कम्भक’ कहा जाता था। ‘विष्कम्भक’ नाटकके आरंभमें भी आ सकता था। ‘प्रवेशक’ ठीक इसी तरहकी चीज़ है। अन्तर केवल यह है कि असके पात्र निम्न श्रेणीके होते थे, प्राकृतमें बात करते थे और नाटकके आरंभमें असका प्रयोग नहीं होता था।

पदोंके भीतरसे किसी आवश्यक बातकी सूचना देनेको ‘चूलिका’ या ‘खण्ड चूलिका’ कहते थे। किसी अंकके अन्तमें आगामी अंकके विषयमें दी गयी सूचनाको ‘अंकमुख’ और अेक अंककी क्रिया लगातार दूसरे अंकतक जब चलती रहे तो अुसे ‘अंकावतार’ कहा जाता था। अिन कौशलसे ऐसी बातोंकी सूचना दी जाती थी, जो रंगमंचपर अभिनीत होनेके योग्य नहीं समझी जाती थीं।

§८६. अुपन्यासकी भाँति नाटकमें भी अेकाधिक कथावस्तुअें रह सकती हैं। अेक घटना प्रधान होती है, बाक़ी अप्रधान। प्रधानको पुराने आचार्य ‘आधिकारिक’ और अप्रधानको ‘प्रासंगिक’ कह गये हैं। रामायणमें रामकी कथा ‘आधिकारिक’ है और सुग्रीवकी ‘प्रासंगिक’। ‘प्रासंगिक’ कथाअें दो प्रकारकी होती हैं :—

(१) वे, जो ‘आधिकारिक’ कथाके साथ बराबर चलती रहें और
(२) वे जो थोड़ी दूरतक ही चलें। पहलीको ‘पताका स्थान’ और दूसरीको ‘प्रकरी’ कहते हैं। नाटकमें यदि दो कथावस्तुओंका अिस प्रकार सन्निवेश हो कि दोनों ही प्रधान-सी लगें या परस्पर अेक-दूसरेसे असंबद्ध जान पड़ें, वहाँ नाटककार सफल नहीं कहा जा सकता। अिस बातको ‘अज्ञातशक्त’ नामक

‘प्रसादजी’के नाटकसे समझा जा सकता है। ‘अजातशत्रु’ की कथा में तीन घटनाओं अकेल-दूसरेसे गूँथी गयी हैं :—

(१) मगधके राजघरानेका कलह, जिसके कारण वृद्ध राजा बिंबसार और रानी वासवी राजच्युत हुयी हैं (२) कोशलके राजा प्रसेनजित् और सुनके पुत्र तथा रानीका पारस्परिक मनोमालिन्य और (३) कौशाम्बीके राजा सुदयन और सुनकी रानी मागंधी तथा पद्मावतीका विवाद । मागंधी ही अन्तमें चलकर श्यामा वेश्या बन जाती है और वही आगे जाकर आम्रपाली । यह तीसरी घटना बहुत सार्थक नहीं है । मागंधीका श्यामाके रूपमें घर छोड़कर बाजारमें जा बैठना थोड़ा-सा नाटकीय अद्देश्य सिद्ध जरूर करता है, पर वह नाटककार अत्यन्त आवश्यक अंग नहीं है । अब अिन घटनाओंपर विचार किया जाय ।

वस्तुतः प्रथमोक्त दो राजघरानोंके घरेलू कलहमें ही नाटककी घटना बनी हुयी है । वे दोनों घटनाओं समानान्तर-सी हैं, यद्यपि दोनोंका नियोग दो तरहसे हुआ है । दोनोंमें ही पिता-पुत्रका झगड़ा है । दोनोंमें ही विद्रोही पुत्रोंकी माताओं सुन्दें सुतेजित करनेमें प्रमुख भाग लेती हैं । परन्तु मगधका वृद्ध सम्राट् बिंबसार नकारात्मक चरित्रका पात्र है (दे० § ७५), जब कि कोशलका प्रसेनजित् घटनात्मक (दे० § ७५) । इसका नतीजा यह होता है कि पहला सिंहासन त्यागकर बंदा हो जाता है और सुसका विद्रोही पुत्र सम्राट् बन बैठता है, जब कि दूसरा (प्रसेनजित्) गद्दीपर जमा रहता है और पुत्रको देश-निकालेकी सजा देता है ।

ये दोनों कथानक बहुत कुछ निरपेक्ष-से हैं । कोशलवाली कहानी मगध-वाली कहानीकी अपेक्षा गौण केवल इस अर्थमें है कि मगधका गृह-विवाद पहले होता है और सुसका समाचार प्राप्तिपर ही कोशलवाला गृह-विवाद आरंभ हो जाता है, यद्यपि आगेकी घटनाओंसे हम जानते हैं कि इस गृह-विवादके पीछे बहुत पुराना झगड़ा है । यह निर्णय करना कठिन है कि अिनमें कौन-सी घटना ‘अधिकारिक’ है और कौन-सी ‘प्रासंगिक’ । नाटकके नामसे जान पड़ता है कि मगध-वाली कथाको ही नाटककार प्रधान मानता है । इस कथाको अप्रसर करनेमें

कोशलवाली घटनासे थोड़ी सहायता मिली जरूर है, पर वहाँ भी यह निर्णय करना कठिन ही है कि अजातको शैलद्रसे अधिक सहायता मिली है या शैलद्रको अजातसे। केवल एक चरित्र—मल्लिकसे—जो कोशलवाली घटनाका परिणाम है—दोनों घटनाओंका घनिष्ठ संबंध है और इस ओर ही सूत्रकी सहायिका होनेके कारण कोशलवाली घटनामें प्रासंगिकता आ गयी है। अुदयनवाली तीसरी कथाकी एकमात्र देन श्यामा है, जो नाटकके घटना-विनासमें महत्त्वपूर्ण भाग लेती है, पर अगर वह पहले मार्गंधीके रूपमें रानी न रही होती और सिर्फ काशीकी वेदया ही होती तो नाटककी कोअी हानि नहीं होती। उसके रानीत्वकी सूचना बादमें केवल विदूषककी बातचीतमें आती है—खुद वह विदूषक भी इस दृश्यमें केवल असलिये खड़ा कर दिया गया है कि नाटककारने आम्रपालीकी जो कहानी नाटकमें लिख दी है उसको कुछ सार्थक बना दिया जाय। किन्तु वह भी बेकार ही है। यदि आम्रपालीके मार्गंधी रूपका कथन नितान्त आवश्यक भी होता तो कअी दृश्योंकी अवतरणिका न करके उसे सूत्र्य रूपमें अुपस्थित किया जा सकता था।

§८७. कुछ लोगोंने यह भ्रम फैला दिया है कि नाटकमें चरित्र-चित्रण गौण वस्तु है। वस्तुतः चरित्र-चित्रण और घटना-विन्यास दोनों सम्मिलित भावसे ही अस महान् गुणको अुत्पन्न करते हैं जिसे किया कहते हैं। अुत्तम चरित्र-चित्रण नाटककारकी कृतिको महान् बनाता है। सिर्फ घटनाओं ही यदि बाहरसे आ-आकर पात्रोंको विशेष दिशामें अग्रसर करती रहें तो पात्र निर्जीव जड़-पिंडके समान मालूम होंगे और नाटकीय प्रभाव अुत्पन्न नहीं हो सकेगा। शकुन्तलाका आश्रममें आत्म-समर्पण और बादमें अपने प्रेमीके द्वारा प्रत्याख्यात होकर रोष-दीप्त होना महज अपने-आपमें स्वतंत्र बाहरी घटनाओं नहीं हैं, बल्कि शकुन्तलाके सरल और निष्कपट चरित्रके भीतरसे अुत्पन्न हुआ हैं। 'अुत्तर रामचरित' में राम-द्वारा सीताका निर्वासन रामके भीतरी चरित्रकी तर्क-संगत परिणति है।

यह जरूर है कि नाटककार अुपन्यासकारकी भाँति अपने पात्रोंके चरित्र-विश्लेषणका सुयोग नहीं पाता। उसे अपने पात्रोंका चरित्र-चित्रण थोके-थे

अिशारोंसे कर देना पड़ता है। उसका प्रधान अवलंब उस पात्रकी बातचीत और अन्य पात्रोंकी, उसके संबंधमें की हुआ, अुक्तियाँ होती हैं। परन्तु, जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, नाटकमें यह बात अुतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि पात्र क्या कहता है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह क्या करता है। घटना और पात्र एक दूसरेसे धक्का खाकर आगे बढ़ते रहते हैं और अिस घात-प्रतिघातसे अुत्पन्न क्रियाओंके द्वारा हम पात्रोंके चरित्ररूपी ग्रंथके पन्नेपर पन्ने खोलते जाते हैं। नाटककारका बड़ा कठिन कार्य यह है कि वह प्रतिमुहूर्त भिन्न-भिन्न पात्रोंके रूपमें नया-नया मनोभाव स्वीकार करता रहता है और अिसीलिये उसका व्यक्तिगत मत और विचार बराबर दबते रहते हैं। अिसी बातको नाटकका 'निर्वैयक्तिक तत्त्व' कहते हैं।

§८८. कथा-वस्तु और पात्रोंके घात-प्रतिघातसे नाटक महान् बनता है। नाटककार यदि पात्रों और घटनाओंको होशियारीसे सम्हाल सका और घटना-विन्यासकी सुकुमार अवस्थाओंको पहचान सका, तो अत्यन्त मामूली कहानीको भी मद्दिमा-मण्डित कर दे सकता है। अिसका सर्वोत्तम अुदाहरण कालिदासका 'अभिज्ञान शाकुन्तल' है, जिसे संक्षेपमें 'शकुन्तला नाटक' कहा जाता है। महाभारतकी सीधी-सादी कहानांको सम्हालनेमें नाटककारने कमालकी सुकुमार प्रतिभाका परिचय दिया है।

महाभारतकी कहानी सीधी है। राजा दुष्यन्त कण्वके आश्रममें जाता है। शकुन्तलाको देखकर आकृष्ट होता है। वह निस्संकोच अपना अप्सरासे जन्म होना बता जाती है। दोनोंमें कुछ बहस होनेके बाद अुसे यकीन हो जाता है कि गांधर्व-विवाह धर्म-संगत है। गांधर्व-विवाह हो जाता है, परन्तु अुसमें शकुन्तला शर्त करा लेती है कि अुसाका पुत्र राजा होगा। राजा राजधानांको लौट आता है। शकुन्तलाके पुत्र होता है। अुसे ऋषिके शिष्य दरबारतक पहुँचाकर चले आते हैं। राजा अस्वीकार करता है। शकुन्तला कबी-कड़ी बातें सुनाती है। फिर आकाशवाणी होता है कि शकुन्तलाका पुत्र वस्तुतः दुष्यन्तका ही पुत्र है और राजा अुसे स्वीकार करता है तथा बताता है कि चालाकीसे

देव-वाणी द्वारा यह कहलवा लेना ही उसका अुद्देश्य था कि भरत वस्तुतः दुष्यन्तका ही पुत्र है ।

यही वह सीधा-सादी कहानी है जिसे कालिदासने अपने नाटकके मूल कथानकके रूपमें पाया था । असि अत्यन्त सरल कहानीको कालिदासकी जादू-भरी लेखनीने अेकदम नयी काया दे दी है । यहाँ लज्जाशीला तापस-कुमारी अपना जन्म-वृत्तान्त स्वयं नहीं कहती । उसकी साखियाँ केवल उस ओर अिशारा-भर कर देती हैं । बाकी बुद्धिमान राजाको स्वयं समझ लेनेको छोड़ देती हैं । उसके प्रेमोदय और गांधर्व-विवाह तूलीके अत्यन्त मुकुमार स्पर्शसे चित्रित किये गये हैं । राजाके अनुचित आचरणको शापकी कथासे ढँक दिया गया है, और असि आचरणकी थोड़ी-सी जिम्मेदारी शकुन्तलापर भी डालकर कदिने करुणतर अनुभूतिका अवसर दिया है ।

शकुन्तला जब दरबारमें पति-दर्शनकी आशासे अुपस्थित होती है तो शापकी घटना अेक विचित्र नाटकीय 'भाग्य-विडंबन' (दे० १९५५) का काम करती है । राजाके मर्यान्तक प्रत्याख्यानको असि शापकी कथाने ऐसा बना दिया है कि सहृदयका कंषोभ अेक विचित्र करुण रससे भीगकर अूपर आनेके अयोग्य हो जाना है । राजापर झुंझलानेके बदले वह असपर दया करता है । शकुन्तलाको शापके वृत्तान्तोंसे अनभिज्ञ रखकर नाटककारने असि प्रसंगको अदभुत् मानसिक द्वन्द्वोंका करुण चित्र बना दिया है । शकुन्तलाका रोष, राजाका प्रत्याख्यान, ऋषि-शिष्योंका शकुन्तलाको छोड़ जाना— सबकुछ विचित्र रस-परिपाकके कारण बन जाते हैं ।

महाभारतकी शकुन्तलाकी भाँति कालिदासकी शकुन्तला राजाको शापकी धमकी नहीं देती । उसकी बातें राजवधू और ऋषि-कन्याके गौरवके अनुकूल हैं । दुष्यन्त अुत्तम नायक है, क्योंकि वह राजकर्तव्योंका समुचित पालन करने-वाला है । उसका निःस्वार्थ कर्तव्यमय जीवन राजर्षिकी तपस्याका जीवन है । शकुन्तलाका परित्याग उसके अुज्ज्वल चरित्रको अुज्ज्वलतर बनाने योग्य ही सिद्ध हुआ है; क्योंकि अनजाने पराअी स्त्राँको पत्नीके रूपमें स्वीकार कर लेना भी

पाप है, और राजा असलमें इस पापसे बचनेकी ही कोशिश कर रहा था। शकुन्तलाका उसके प्रति जो प्रेम है वह दुःखकी अभिसे परिशुद्ध है। अन्तिम मिलन प्रेम-प्रविता बालिकाका नहीं, बल्कि तपःशुद्धा, मातृत्वके गौरवसे गौरवान्वित, विगतकल्मषा, साध्वी शकुन्तलाका है।

विरोधी परिस्थितियों और व्यक्तित्वोंकी सृष्टि करके अपने पात्रोंके चरित्र-गुणको अज्ज्वल करनेमें भी कविने कमालकी हांशियारीसे काम लिया है। लेकिन शकुन्तलाकी तुलनामें किसी भी स्त्री-पात्रको रंगमंचपर दर्शकके सामने नहीं आने दिया है। विदूषक सदा राजाके साथ रहता है, परन्तु अगर वह शकुन्तलाके प्रेमका सावर्षा होता तो सोरे नाटकका रस फीका हो जाता। ठीक मौक़े परसे नाटककारने उसे कौशलपूर्वक हटा दिया है।

कण्व बड़ा आकर्षक चित्र है। वे सन्तानहीन ऋषि हैं, पर संतानके अहैतुक प्रेमसे उनका हृदय भरा है। मरीच और दुर्वासा अिन दो और ऋषियोंको तुलनामें खड़ा करके कविने उनके हृदयकी गंभीरता, अुदारता और प्रेम-प्रवणताको अति अज्ज्वल कर दिया है। इसी प्रकार और चरित्रोंके चित्रणमें और घटनाओंके गति-विकासमें उनका संयोजन करके 'शकुन्तला' को कालिदासने विद्व-साहित्यकी अमर विभूति बना दिया है। चरित्र-चित्रण अितना सूक्ष्म और कौशलपूर्ण है कि थोड़े समयमें दिख जानेवाले अत्यन्त गौण चरित्र भी स्पष्ट हो अुठे हैं। शार्ङ्गधर और शारद्वत बहुत थोड़े समयके लिये रंगमंचपर आते हैं, बातें भी कम ही करते हैं, पर अुतनेमें ही स्पष्ट हो गया है कि शार्ङ्गधर अुद्धत गर्वाला है, राजाको खरी-खरी सुना देता है और शारद्वत शान्त गंभीर है, और कन्या-पक्षके आदमीको जिस प्रकार बात करनी चाहिये वैसी बात करता है।

५८९. मतलब यह कि पात्रोंके चरित्र और घटनाओं अेक-दूसरेसे टकराकर जब नाटककी गतिशाल बनाये रखें तभी वे सफल होती हैं। यह बात अपन्यासके लिये भी सत्य है। कोई भी रचना तभी सफल हो सकती है, जब हम यह अनुभव करते रहें कि कुछ भिन्न-भिन्न स्वभावके व्यक्ति विभिन्न अुद्देश्योंको लेकर अेकत्र हूअे, और उनके स्वभावगत और अुद्देश्यगत विरोधोंके संघर्षसे कुछ

परिस्थितियोंमें घटनाओं अग्रसर होती गयीं। इसलिये पात्रोंका स्वभाव और उनका अद्देश्य नाटकीय कथा-वस्तुके लिये परम आवश्यक है। उनकी अपेक्षा दोष है।

§१०. जैसा कि ऊपर बताया गया है, पात्रोंके चरित्र-चित्रणका एक प्रधान अवलंब उनकी बातचीत है। बातचीतसे हम उनके भीतरी मनोभावोंका आभास पाते हैं और उनकी क्रियाओंके पीछे रहनेवाले उनके विचार समझ पाते हैं। इसीलिये भरतमुनिके 'नाट्यशास्त्र'में पात्रोंकी बातचीतको नाट्यका शरीर बताया गया है। अपन्यासमें बातचीतके द्वारा लेखक अपने अद्देश्यको व्यक्त कर सकता है, अपने मान्य सिद्धान्तोंके गुण-दोषकी विवेचना कर सकता है, अन्य पात्रोंके चरित्रकी व्याख्या करा सकता है, पर नाटककारको अतना अवकाश नहीं होता। नाटककार जो बातचीत कराता है उसका अद्देश्य चरित्रके भीतरी मनोभावों और वास्तविक स्वभावको व्यक्त करके उसके चरित्रगत वैशिष्ट्यको दिखाना होता है। नाटकीय वार्तालापका औचित्य विचार करते समय यह देखना चाहिये कि जिससे पात्रके चरित्रगत विशेषतापर क्या प्रकाश पड़ता है। इसीपरसे उसकी सार्थकताका निर्णय होना चाहिये।

§११. ऐसा संभव है कि पात्र एक ऐसी बात प्रकाश्य रूपमें कहे जो उसका भीतरी मनोभाव न हो, किसी कारणवश वह झूठ बोल रहा हो। ऐसी हालतमें नाटककार एक 'कौशल' अवलंबन करता है। वह या तो पात्रसे कोअी 'स्वगत' अङ्कित कराता है— अर्थात् पात्र अपने आपसे ही बातचीत करके असली रहस्य खोल देता है, या फिर, यदि पात्रका कोअी विद्वसनीय साथी वहाँ मौजूद हो, तो उससे 'जनान्तिक'में बात करा देता है। यह 'जनान्तिकवाली' बात सिर्फ उसका विश्वासपात्र व्यक्ति ही सुनता है।

ये दोनों बातें अजीब-सी लगती हैं। रंगमंचसे बहुत दूर बैठा हुआ धोता 'जनान्तिक'की बातें सुन लेता है, पर पास खड़ा आदमी नहीं सुन पाता, ऐसा मान लिया जाता है। 'स्वगत' अङ्कितमें तो कभी-कभी लंबा व्याख्यान होता है। नाटकके रंगमंचके सिवा दुनियामें और कहीं भी दुरुस्त होशवाला

आदमी इस प्रकार अपने आपको व्याख्यान नहीं सुनाता । आलोचकोंमें इस प्रथाके औचित्यको लेकर काफी बहस हुई है, पर ये दोनों बातें सारे संसारके नाटककारोंकी चिराचरित प्रथाओं हैं ।

वस्तुतः स्वगत-शुद्धित पात्रका मानसिक सोच और वितर्क है । नाटककार अपने श्रोताओंकी सुविधाके लिये इन वितर्कोंको जोरसे बोलवाता है । ज़मानेसे श्रोता भी इसके साथ इस प्रकारकी रियायत करता आता है । भारतीय नाटकोंमें इससे मिलती-जुलती अेक और भी विधि है । इसे 'आकाश-भासित' कहते हैं । इसमें पात्र इस प्रकार बातचीत करता है मानो दुतल्ले परसे कोअी इससे कुछ पूछ रहा है और वह इसका जवाब दे रहा है । प्रतिबार वह श्रोताओंके सुर्भोतेके लिये स्वयं ही पूछ लेता है— 'क्या कहा?— अमुक बात !' और फिर अमुक बातका जवाब देता है ।

आजकलकी यथार्थवादी प्रवृत्ति इस प्रकारकी रूढ़ियोंको भई रूढ़िके रूपमें ही ग्रहण करने लगी है । आधुनिक नाटककार इस प्रथाको छोड़ने लगे हैं और साधारण बातचीतके भीतरसे ही पात्रके भीतरी मनोभावोंको चित्रित करनेका प्रयत्न करने लगे हैं । यह कठिन कार्य और भी कठिन इसलिये हो गया है कि आजकलके नाटक अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं; फिर भी, आधुनिक नाटककारने सफलतापूर्वक इन रूढ़ियोंका परित्याग किया है ।

§९२ 'रंगमंच' की सुविधा-असुविधाके अनुसार नाटककी कारागारांमें बराबर परिवर्तन होता आया है । आजकल 'रंगमंच'को वास्तविक और यथार्थ रखनेकी प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है । ऐसा करनेसे सब समय दर्शकके साथ न्याय नहीं किया जाता । दर्शककी कल्पनाको भी पूरा अवकाश मिलना चाहिये । 'रंगमंच'के दृश्यकी ओर अशारा-भर हो और बाकी दर्शककी कल्पनाके ऊपर छोड़ दिया जाय तो ज़्यादा सरसता आ सकती है । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने 'रंगमंच'की अतिथयार्थवादी बनानेकी प्रवृत्तिको 'लडकपन' कहा था । इस दृष्टिसे प्राचीन भारतीय 'रंगमंच' आधुनिक 'रंगमंचों'की अपेक्षा अधिक सरस और गंभीर कहे जा सकते हैं, यद्यपि ये अतने सुसज्जित नहीं होते थे ।

भारतीय आचार्योंने अभिनयके चार अंग माने हैं :—‘आंगिक’ ‘वाचिक’, ‘आहार्य’ और ‘सात्त्विक’। ‘आंगिक’ अभिनय देह और मुख-संबंधी अभिनयको कहते हैं। प्राचीन ग्रंथोंमें सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर आदि अंगोंके सैकड़ों प्रकारके अभिनय बातें गये हैं। अिन अभिनयोंका किस-किस कार्यमें प्रयोग होगा, यह भी विस्तृत रूपसे बताया गया है। ‘वाचिक’ वचन संबंधी अभिनयको कहते हैं। पदोंका स्पष्ट उच्चारण, उचित स्थानपर ज़ोर (काकु) आदिकी कला इसीमें गिनी जाती है। ‘आहार्य’ रंगमंचकी सजावट और पात्रोंके वेश-विन्यासको कहते हैं। रंगमंचमें यथार्थताकी झलक ले आ देनेके लिये अुन दिनों तीन प्रकारके पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बाँस या सरकंडेके बने होते थे जिनपर कपड़ा या चमड़ा मढ़ दिया जाता था, ताकि पहाड़, वन आदिकी झलक दे सकें; या फिर यंत्रादिकी सहायतामें फर्जी बना लिये जाते थे; या फिर अभिनेता इस प्रकारकी चेष्टाओंका अभिनय करता था कि जिससे दर्शकोंको अुन वस्तुओंका बोध अपने-आप हो जाता था। पुरुषों और स्त्रियोंकी सुपयुक्त वेश-रचना और अुनका यथाविधि रंगमंचपर अुतरना भी ‘आहार्य’ अभिनयके ही अंग समझे जाते थे। परन्तु अिन तीनों ही की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है ‘सात्त्विक’ अभिनय। भिन्न-भिन्न रसों और भावोंके अभिनयमें ही अभिनेता या अभिनेत्रीकी वास्तविक परीक्षा होती है।

अिस प्रकार रंगमंचकी सजावट, पात्रोंका वेश-विन्यास, अुनकी बातचीत, अुनकी आंगिक गति और अुनका भावात्मक अभिनय भी भारतीय शास्त्रकारकी दृष्टिमें अभिनय ही हैं। ‘अभिनय’ शब्दका अर्थ वह ‘क्रिया’ है जो दर्शकोंको रसानुभूतिकी ओर ले जाय। रंगमंचकी सजावट, पात्रोंकी बातचीत, अुनका वेश-विन्यास आदि सभी बातें रसानुभूतिकी सहायिका हैं। परन्तु यदि ये ही प्रधान हो सुठें और रसानुभूति गौण हो जाय तो ये दोष हो जायेंगी। रंगमंचके अन्यधिक यथार्थवादी बनानेके प्रयासों अिस बातको भूल जाते हैं।

§१३ प्रत्येक नाटकाय कथा कुछ विरोधोंको लेकर अग्रसर होती है। जो कथा सरल होती है अुसमें यह विरोध दो व्यक्तियोंमें होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि विरोधके लिये हर हालतमें अेक नायक और अेक प्रतिनायक

रहें ही। आधुनिक नाटकोंमें यह विरोध नाना भावसे प्रदर्शित हुआ है। नायकका खुसके भाग्य या परिस्थितियोंके साथ विरोध हो सकता है, सामाजिक रूढ़ियोंके साथ विरोध हो सकता है और फिर अपने मतके परस्पर विरोधी आदर्शोंके संघर्षके रूपमें भी हो सकता है। विरोध व्यक्तियों, मनोभावों, और स्वाध्यायोंके केन्द्र करके नाना रूपमें प्रकट हो सकता है। इस विरोधसे ही नाटककी घटनामें गति या क्रिया आती है। विरोधके आरंभसे ही वस्तुतः कथा-वस्तुका आरंभ होता है और खुसके अन्तसे ही खुसका अन्त हो जाता है। विरोध कथा-वस्तुका आश्रय करके अग्रसर होता हुआ चरमबिंदुतक अग्रसर होता है, जहाँसे एक पक्षकी हार शुरू होती है और एक पक्षकी जीत, और अन्तमें जब हारनेवाला पक्ष अकस्मिक हार जाता है तो विरोधकी समाप्ति हो जाती है।

अब क्रियाओंको पश्चिमके पंडितोंने पाँच भागोंमें बाँट लिया है :—
 (१) पहली 'आरंभावस्था' है, जिसमें कुछ ऐसी घटनाओंकी अवतारणा होती है जिनमें विरोध अंकुरित होता है। (२) दूसरी 'विकासवस्था' है, जहाँ विरोधका विकास होता है, वह अग्रसर होता जाता है। (३) तीसरी अवस्थाका नाम 'चरमबिंदु' है। यहाँ विरोध अपना सर्वोच्च सीमापर आ जाता है। (४) चौथी अवस्था 'हासवस्था' कहलाती है, जिसमें विरोध अग्रसरकी ओर होता है और एक पक्ष निश्चित रूपसे हारकी ओर अग्रसर होता रहता है। (५) पाँचवीं अवस्थाका नाम 'समाप्ति' है।

अब पाँच अवस्थाओं—'आरंभ'—'विकास'—'चरमबिंदु'—'हासवस्था'—'समाप्ति'—को लक्ष्यमें रखकर पाँच अंकके नाटक लिखे जाते थे। पर नाना कारणोंसे अंकोंका विभाजन क्वचित्-कदाचित् ही अब पाँच अवस्थाओंके स्वाभाविक विकासके आधारपर होता है। कभी दो अंकोंतक 'आरंभ' चल रहा है, दो अंकोंतक 'विकास' चलता है। फिर धड़ाधड़ अन्तिम अंकमें 'चरम-बिंदु', 'हास' और 'समाप्ति'की योजना कर दी जाती है। यह दोष है। होना यह चाहिये कि कथा-वस्तुकी अब पाँच अवस्थाओंके विकासमें सामंजस्य हो। सभी नाटक पाँच अंकोंके नहीं होते, कुछ दस अंकोंके भी होते हैं, कुछ चार अंकोंके और कुछ

तो अंक ही अंकके । परन्तु ये पाँच तत्त्व सबमें वर्तमान रहते हैं । ऐसी हालतमें यह तो कहना ही व्यर्थ है कि प्रत्येक अवस्थाको अंक-अंक अंक्रमें समाप्त कर देना संभव नहीं है, क्योंकि सभी नाटक पाँच अंकके होते ही नहीं । फिर भी यह आवश्यक है कि नाटककार अिन पाँच अवस्थाओंके सामंजस्य रखे ।

आलोचकोंने त्रिभुजाकार कथा-वस्तुकी कल्पना करके यह व्यवस्था दी है कि उत्तम वस्तु वह है जहाँ समन्निबाहु त्रिभुजकी आकृति हो—अर्थात् प्रत्येक अवस्थाके बीच समान-समान काल लगना उत्तम है । वस्तुतः प्रत्येक कथाके लिये अंक ही प्रकारकी सलाह नहीं दी जा सकती, परन्तु अिनकी यथा-संभव समव्यवधानता होनी चाहिये ।

§९.४. अिन पाँच अवस्थाओंके साथ पुराने भारतीय आचार्योंकी बनायी हुई पाँच अवस्थाओंकी तुलना की गयी है । ये पाँच अवस्थाएँ हैं—‘आरंभ’, ‘प्रयत्न’, ‘प्राप्त्याशा’, ‘नियताप्ति’ और ‘फलागम’ । अिस विभागमें यह मान लिया गया है कि नाटककी समस्त क्रियाओंका कोअी फल होता है । आरंभ नामक अवस्थामें वह फल अंकुरित होता है । ‘प्रयत्न’ में नायक अुसे पानेका प्रयत्न करता है, ‘प्राप्त्याशा’ में अुस फलके पानेकी आशा होती है । फिर मार्गमें आये हुये विघ्नोंका अुच्छेद होता है और फल प्राप्त करना निश्चित हो जाता है, अिस अवस्थाका नाम ‘नियताप्ति’ है । अन्तमें ‘फलागम’ होता है अर्थात् नायकको अभिलषित फल मिल जाता है ।

सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू श्यामसुंदरदासने अिन दोनों विभागोंमें जो दृष्टिकोण लक्षित हो रहे हैं अुनका अन्तर अिस प्रकार समझाया है :—“विरोध और अगड़े आजकलकी सभ्यताके परिणाम हैं । कम-से-कम अिनकी विकास और वृद्धि आजकलकी सभ्यतामें हुयी है । प्राचीन भारतमें भी विरोध और अगड़े थे, पर वे अितने अधिक और प्रत्यक्ष नहीं थे कि रंगशालाओंपर अुनके अभिनयकी आवश्यकता होती । हमारे यहाँके प्राचीन नाटक तो केवल धर्म, धर्म और कामके अुद्देशसे रचे और खेले जाते थे ।

हमने ऊपर देखा है कि पश्चिमी पंडितोंने जिसे 'विरोध' कहा है वह दो व्यक्तियों या दलोंके विरोधतक ही सीमित नहीं है, वह सत् और असत्के विरोधतक भी मर्यादित नहीं हैं, वह नायकके भीतरी मनोभावों, सामाजिक रुढ़ियों या परिस्थितियोंके साथ भी हो सकता है। नाटकमें 'विरोध' असलिये नहीं होता कि विरोधको आजकल रंगभूमिमें दिखानेकी कोअी 'आवश्यकता' आपसी है, बल्कि असलिये होता है कि किसी-न-किसी विरोधके भीतरसे ही नाटककी क्रिया अग्रसर हो सकती है। यह गति-शास्त्रका सामान्य नियम है कि दो विरोधी शक्तियोंके संघर्षसे ही गति पैदा होती है। यह 'विरोध' 'मृच्छकटिक' में भी है और 'शकुन्तला' में भी है।* अतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि अिन नाटकोंमें 'विरोध'का सुर कभी प्रबल करके नहीं दिखाया जाता, उसका अन्त सामंजस्यमें होता है। 'अुत्तरचरित' भवभूतिका लिखा हुआ प्रसिद्ध भारतीय नाटक है। अिस नाटकका विश्लेषण करके देखा जाय कि वहाँ यह विरोध या द्वंद्व किम प्रकार दिखाया गया है। अिस नाटकका हिंदी अनुवाद कविवर सत्यनारायण 'कविरत्न'ने किया था।

§९५. कभी आलोचकोंने कहा है कि भवभूतिका 'अुत्तरचरित' नाटककी अपेक्षा काव्य अधिक है। अिसमें बारह वर्षसे भी अधिक दीर्घकालकी घटनाओं

* यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय नाट्य-शास्त्रमें बतायी हुअी ये अवस्थाओं नाटकीय कथानकके विकासकी अवस्थाओं हैं। नाटकके पाँच अुपादान और होते हैं। अुन्हें शास्त्रमें 'अर्थ प्रकृति' कहा जाता है। पाँच और अवस्थाओं गिनायी गयी हैं, जिनका नाम 'संधि' दिया गया है। ये नाटकीय क्रियाको ध्यानमें रखकर अुद्भाविता की गयी हैं। 'संधि'का शब्दार्थ 'जोष' है और अिसलिये सद्ग ही अनुमान होता है कि पहले बतायी हुअी अवस्थाओंको जोड़ना ही संधियोंका कार्य है। जहाँ नाटकीय क्रियाका स्वाभाविक विराम होता है, अेक अवस्थासे दूसरी अवस्था संक्रमित होती है, वही संधि होती है। पाँच संधियाँ अिस प्रकार हैं :—मुख (आरंभ), प्रतिमुख (क्रियाकी प्रगति), गर्भ (अुद्भव या विकास), विमर्श (विराम) और परिसमाप्ति या निर्वर्ण।

कही गयी हैं। और कुछ पत्र तो (जैसे— लव, कुश और चंद्रकेतु) ऐसे हैं जो नाटकमें महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, फिर भी नाटककी घटना आरंभ होनेके समय जनमे ही नहीं थे। जिस वस्तुको पश्चिमी नाट्य-शास्त्रियोंने 'समय-संकलन' और 'देश-संकलन' कहा है [दे० §१९] उसकी भवभूतिने बिल्कुल अपेक्षा की है, परन्तु फिर भी उसकी प्रतिभाने अतने दीर्घकालमें व्याप्त घटनाको बड़ी सावधानीसे सम्हाला है। पाठक समयके व्यवधानको अकदम भूल जाता है। भवभूतिकी सुर्व कल्पनाने अक-पर-अक ऐसे आकर्षक और हृदयप्राही चित्रोंकी नृष्टि की है कि पाठक सुन्हींमें सुलझा रह जाता है। प्रथम अंकमें उस अपूर्व योग्यताका परिचय मिलने लगता है। नाटकमें जब कोभी ऐसा दृश्य आता है, जिसमें पात्र विपत्तिके कगारपर खड़ा होकर सुखकी कल्पना करता रहता है और वह स्वयं तो उस विपत्तिकी खबर नहीं रखता पर दर्शक उसे जानता होता है, तो इस परिस्थितिको नाटकीय 'भाग्य-विडम्बन' कहते हैं।

प्रथम अंकमें सीता अक अतिशय क्रूर भाग्य-विडम्बनाके दरवाजेपर खड़ी हैं। यह वे नहीं जानतीं और पूर्व जीवनके वनवासकालीन आनंद और दुःखसे मिश्रित चित्रोंको देखती जाती हैं, तथा फिर अक बार उस दृश्यको देखनेकी अभिलाषा प्रकट करती है। इस प्रकार उसने भावी निर्वासनका बहाना रामको बड़ी आसानीसे मिल जाता है। उस समय समस्त वृद्धजनोंको अयोध्यासे दूर रखकर नाटककारने रामके क्रूर निश्चयके मार्गकी सभी बाधाओंको अकदम दूर कर दिया है। इस प्रकार शुरूमें ही नाटकके अन्तर्निहित 'द्वंद्व' या 'विरोध'का सूत्रपात हो जाता है। समस्त नाटकके भीतर रामका अन्तर्द्वन्द्व—अनके भीतरी प्रेम और बाहरी राजकर्तव्यके द्वन्द्व—बहुत चतुरताके साथ शुरूमें ही दिखा दिया गया है।

रामके चरित्रमें व्यक्तिकी अपेक्षा राजाके बाह्य कर्तव्यका जो प्राधान्य है उसीने नाटकको अक अपूर्व करुण भावसे आर्द्र बना दिया है। परन्तु चूँकि सीताके चरित्रमें अकरसता अधिक है इसलिये नाटककार शुरूमें ही अनकी ओर पाठकका ध्यान नहीं आकृष्ट कर सका है। परन्तु तृतीय अंकमें जब सीता अपने प्रियतमको देखती और क्षमा करती हैं तो भवभूतिका चित्रण अत्यन्त

सुकुमार हुआ है। राम यद्यपि कर्तव्य-पालनमें कठोर हैं पर सीताके प्रति उनका प्रेम निस्संदेह अत्यधिक है। रामके चरित्रगत इस भीतरी विरोधको जितना इस अंककी घटनाएं स्पष्ट करती हैं उतना और किसी अंककी नहीं। देशी और विदेशी सभी पंडितोंने स्वीकार किया है कि इस अंकमें सीताके शान्त, मंभीर और अद्वार आत्मसमर्पणमें एक ऐसी रस-वस्तुका साक्षात्कार होता है जो भवभूतिकी अपनी विशेषता है। सारे अंकमें यद्यपि कुछ अप्राकृतिक अवस्थाओंका सहारा नाटककारने लिया है, पर बड़ी चतुरताके साथ इस दैवी सहायताने भावी मिलन और प्रेमको सांद्ररूपमें प्रकट करनेका मार्ग प्रशस्त कर लिया है।

‘अन्तरचरित’का तृतीय अंक कवित्व, कल्पना और रस-परिपाककी दृष्टिसे बेजोड़ है। अन्तिम अंकमें भवभूतिकी नाटकीय प्रतिभा सर्वोच्च स्थान-पर उठी है। केवल भारतीय नाटकोंकी मिलनान्त होनेवाली रुढ़िके पालनके लिये भवभूतिने अन्तिम अंकमें मिलन नहीं कराया है। वस्तुतः नाटक जिस रास्ते अप्रसर हुआ है उसकी सर्वोत्तम परिणति यही है। ऐसा न होता तो, जैसा कि भे. बी. कीथने लिखा है, आधुनिक पश्चिमी आलोचककी दृष्टिमें भी नाटक अपूर्ण ही रह जाता।

§९६. नाटककी क्रिया वस्तुतः दो प्रकारकी होती है :—‘साक्षात् प्रवर्तित’ या ‘प्रत्यक्ष’ तथा ‘असाक्षात् प्रवर्तित’ या ‘परोक्ष’। ‘प्रत्यक्ष’ और ‘परोक्ष’ शब्द अधिक सुगम हैं, इनके लिये ‘साक्षात् प्रवर्तित’ और ‘असाक्षात् प्रवर्तित’ ये दो शब्द शास्त्रमें प्रयुक्त होते हैं। ‘प्रत्यक्ष’ क्रिया नाटकके रंगमंच-पर दिखायी देती है। मारना, लड़ना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं, परन्तु ‘अप्रत्यक्ष’ या ‘परोक्ष’ क्रियाएँ सात्त्विक अभिनयसे दिखायी जाती हैं। [दे० §९२.] दुःखी होना, आनंदित होना आदि ऐसी ही क्रियाएँ हैं। शेक्सपियरके नाटकोंमें ‘प्रत्यक्ष’ क्रियाका बाहुल्य है और बर्नर्डशा तथा रवीन्द्र-नाथके नाटकोंमें ‘परोक्ष’ क्रियाका। दोनोंमें सामंजस्य-विधान होना चाहिये। नाटककारको इस बातका पूरा ध्यान रखना चाहिये कि अकारण को भी क्रिया न दिखायी जाय। प्रत्येक क्रियाका अद्भुत होना चाहिये। इसी अद्भुतसे नाटककी क्रिया रसोद्रेकमें सहायता करती है।

§९७. भरतमुनिने कहा है कि नाटक अवस्थाओंके अनुकरणका नाम है। अनुकरण केवल तीन तत्त्वोंक ही सामित है — (१) घटनाका (२) पात्रका और (३) बातचीतका। तीनोंके अनुकरण तीन-तीन तरहसे हो सकते हैं। या तो सुन्दर, जैसा वे होते हैं सुससे अच्छा करके दिखाया जा सकता है; या बुरा करके दिखाया जा सकता है; या ज्यों-का-त्यों दिखाया जा सकता है। चाहे नाटक यथार्थवादी हो या आदर्शवादी, पहले दो तरीके भद्दी रुचिके परिचायक हैं। यथार्थसे बुरा करके जो अनुकरण होगा सुसमें खून खबर शराब-कबाब, हत्या-डकैती आदिका प्राधान्य होगा। जो यथार्थसे अच्छा होगा सुसमें आकाशवाणी, देवत्वारोप, पुष्पवृष्टि आदिका प्राधान्य होगा।

वस्तुतः नाटकका अनुकरण वास्तविक होना चाहिये। केवल सुसका प्रभाव ऐसा होना चाहिये जो मनुष्यको पशु-सुलभ मनोवृत्तियोंसे ऊपर उठावे। मनुष्य नाना प्रकारकी दुर्बलता और शक्तियोंका समन्वय है, सुसका अनुकरण भी वैसा ही होना चाहिये। कुछ लोगोंको यह भ्रम है कि पाश्चात्य देशोंमें जिसे 'ट्रेजेडी' कहते हैं वह दुःखान्त या वियोगान्त घटना है। असल बात यह नहीं है। 'ट्रेजेडी' दुःखान्त नाटक है, जिसमें संदेह नहीं, परन्तु यदि चरित-नायकमें ऐसी स्वाभाविक दुर्बलता न हो, जो सुसके दुःखमय अन्तको स्वाभाविक रूपमें बढ़ा ले चले, तो वह चाँज 'ट्रेजेडी' नहीं कही जायगी। यदि शुरूमें ही मान लिया जाय कि चरित-नायक कभी भी सत्पथसे विचलित नहीं होनेवाला व्यक्ति है तो 'ट्रेजेडी'का रस-परिपाक अच्छा नहीं होगा, क्योंकि 'ट्रेजेडी'के समस्त दुःखोंका मूल उस चरित-नायककी दुर्बलता ही है। जिसलिये नाटकीय चित्रणमें वास्तविकता आवश्यक है। अिन वास्तविकताओंके भीतरसे ही उत्तम नाटककार महान् बनानेवाले नाटकीय प्रभावको पैदा करता है।

§९८. चरित्र-प्रधान नाटकोंके प्रसंगमें हिंदीके प्रसिद्ध नाटककार श्री. जयशंकर 'प्रसाद'का नाम लिया जा सकता है। उनके नाटकोंके प्रधान आकर्षण दो हैं :— (१) शक्तिशाली चरित्र और (२) कवित्वमय वातावरण। यद्यपि उनके चरित्रोंमें अनेक श्रेणीके लोग नहीं हैं, तथापि वे अितने सजीव हैं कि पाठक उनको भूल नहीं सकता। उनके आदर्श पात्रोंमें बीरता, प्रेम और

देशभक्ति आवश्यक रूपसे विद्यमान रहते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनमें बहुविधता नहीं आ पायी है।

अनके सभी आदर्श और आकर्षक पुरुष पात्रोंको तीन मोटे विभागोंमें बाँट लिया जा सकता है :—

(१) तत्त्वचिंतक (२) कर्मठ वीर सैनिक और (३) कुटिल राजनीतिज्ञ। ये सभी पात्र प्रेमी होते हैं और प्रेम ही अनको दुर्बल या सबल बनाता है। उनके स्त्री-पात्रोंमें भी ये ही बातें लागू होती हैं। उन्हें भी तीन श्रेणियोंमें बाँट लिया जा सकता है :— (१) कुटिल राजनीतिज्ञाओं (२) प्रेमिकाओं और (३) दुर्बल हृदयकी महत्त्वाकांक्षिणी स्त्रियाँ।

अनके सभी नाटकोंमें कुछ घटा-बढ़ाकर ये छः प्रकारके चरित्र खोजे जा सकते हैं। फिर भी 'प्रसाद'जीके पात्र खुस प्रकारके 'टाओप' नहीं हैं, जैसा कि पुराने साहित्यमें राजा, रानी, ब्राह्मण, मंत्री आदिके 'टाओप' बन चुके थे। रानीको कैसा होना चाहिये, राजाको कैसा होना चाहिये, ये बातें पहलेसे ही तय हो गयी होती थीं। नाटककार अन 'टाओपों'को ही रसोद्रेकका वाहन बनाता था। 'प्रसाद'जीके नाटक खुस प्रकारके 'टाओप' नहीं हैं। परन्तु खुसकी समूची ग्रंथावली पढ़नेवाला पाठक यह जरूर अनुभव करेगा कि यद्यपि अनके पात्र पुरानी रूढ़ियोंके अनुसार 'टिपिकल' तो नहीं हैं परन्तु उनके अपने ही मनसे गढ़े हुअे 'टाओप' अवश्य हैं।

'प्रसाद'जीके नाटकोंका दूसरा आकर्षण अनका कवित्वमय वातावरण है। अनके कभी चरित्र मनुष्य रूपमें प्रगीत मुक्तक हैं। देवसेना और कर्नेलिया जैसे ही मुक्तक काव्य हैं। उनके जीवनमें अेक प्रकारका संगीत है, अेक विशेष 'छंद' है। परन्तु केवल चरित्र ही नहीं 'प्रसाद'जीके सारे नाटकोंका वातावरण ही कवित्वमय है। पात्रोंकी बातचीतमें, नाममें, हिलने-डुलनेमें, सर्वत्र कवित्वका सुर ही प्रबल है। उन्होंने अपने युगके प्रधान प्रश्नोंसे मुँह नहीं मोड़ा है। उनके नाटकोंमें राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिक झगडे, स्त्रीका समानाधिकार, युद्धका विषमय परिणाम, साम्राज्यवाद, विदेशी शासन आदि सभी बातें आयी हैं।

पर सब कुछपर कवित्वका अंक मोहक आवरण पड़ा हुआ है। इस प्रकार 'प्रसाद'जी के नाटकोंको उनके चरित्रों और कवित्वमय वातावरणने आकर्षक बना दिया है।

§१९. भूपर जिस देश-संकलन, काल-संकलन और वस्तु-संकलनकी चर्चा की गयी उसपर यहाँ विचार कर लिया जाय। बहुत प्राचीन कालसे यूनानके नाट्यशास्त्रियोंने वस्तु, काल और देश-संबन्धी तीन बातोंके संकलनकी मर्यादा बाँध दी थी—अर्थात् किसी नाटकका पूरा अभिनय किसी एक ही कृत्स्न सम्बद्ध होना चाहिये; चौबीस घंटोंमें घटित घटनाका ही संक्षिप्त रूप होना चाहिये और किसी एक-ही स्थानपर घटित घटनाका रूप होना चाहिये। अिनको क्रमशः 'वस्तु-संकलन', 'काल-संकलन', और 'देश-संकलन' कहा जाता है। शेक्सपियरने अिन तीन संकलनोंको नहीं माना और आजकलके नाटककार भी अिन्हें 'ज्यों-का-त्यों' नहीं मानते। यद्यपि एक दिन, एक स्थान और एक कृत्यकी संकीर्ण मर्यादा मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि अिससे नाटककार अनावश्यक बंधनोंसे जकड़ जाता है; पर अिन तीनों संकलनोंके अन्तर्निहित सत्यको भुलाया नहीं जा सकता। रंगमंचपर यदि एक दृश्य आजका दिखाया गया हो और दूसरा दस वर्ष बादका तो सहृदय श्रोताके चित्तमें विकल्प उत्पन्न होगा और उसकी रसानुभूतिमें बाधा पड़ेगी। अिसी तरह दृश्य यदि दूर देशोंमें पटापट परिवर्तित होते जायें तो भी सहृदयका चित्त विकल्पमें पड़ जायगा। अिसलिये नाटकके देश, काल और वस्तुमें यथासंभव कम अन्तर होना आवश्यक है। दीर्घकालका कौशल दिखानेके लिये नाटककारको कौशलसे काम लेना चाहिये। यदि बीच-बीचमें कुछ दूसरे दृश्यसे दर्शकको अिस प्रकार झुलसा दें कि दर्शक देशगत और कालगत व्यवधानोंको भूल जाय तो कालगत व्यवधान खटकता नहीं। लिदासने शकुन्तलाके प्रत्याख्यान और पुनर्मिलनके बीच अितन अनेक दृश्योंकी अवतारणा की है कि काल और देश-विषयक व्यवधान दर्शकको याद ही नहीं रहता।

§१००. नाटक बहुत अधिक निःसंग रचना है। सारे नाटकमें कहीं भी यह मौका नहीं रहता कि हम नाटककारके अपने जीवन या अपने विचारोंके

विषयमें कुछ जान सकें। प्राचीन कालमें भारतीय नाटककारोंने जिस कठिनाधी-पर विजय पानेके लिये नाटकके आरंभमें 'प्रस्तावना' रखनेकी प्रथा चलायी थी। प्रस्तावनामें नाटकका सूत्रधार (व्यवस्थापक) अपनी पत्नी नटीसे बातचीत करता था और कविके नाम, धाम और यशका पता तो बताता ही था, नाटक किस अवसरपर खेलनेके लिये बनाया गया था और उसमें किस प्रकारकी बात आने वाली है, जिसकी सूचना भी बड़े कौशलसे दे देता था। नये युगमें यह प्रथा छुट गयी है। छापेकी मशीनसे जिस विषयमें दर्शककी सहायता की है। साधारणतः नाटककारका नाम और अभिनेताओंके नाम भी छापकर दर्शकोंतक पहुँचा दिखे जाते हैं। पर जिस नवीन प्रयत्नमें न तो पुराना कौशल ही रह गया है, और न वह समय कवित्व ही, जो प्रस्तावनाको जीवन्त बना देते थे। फिर भी नाटक निरुसंग रचना है, यह बात भुलायी नहीं जा सकती। जिसलिये नाटकमें कविका क्या अद्भुत है, यह समझना कठिन रह ही जाता है।

§ १०१. प्राचीन युगमें नाटक काव्यका ही एक भेद माना जाता था। जिसलिये उसमें काव्यतत्त्व प्रचुर मात्रामें पाया जाता था। अधिपथिकके बर्नर्डशा आदि लेखकोंमें प्राप्त प्रेरणाने हमारे लेखकोंको अधिक गद्यात्मक और बुद्धिमूलक नाटक लिखनेको प्रवृत्त किया है। अिन नाटकोंमें सामाजिक रूढ़ियोंके पर्देके पीछे जो नम्र सत्य है उसके तथा चिराचरित प्रथाके मूलमें निहित सत्यका विरोध दिखाया जाता है। विरोधी प्रायः तुल्यबल होते हैं और नाटकके अन्तमें दर्शक केवल समाजका विश्लेषण करनेकी बुद्धि और आनिश्चय लेकर अउठता है। अिन्हें 'समस्या नाटक' नाम दिया गया है।

व्यक्ति और समाजके संबंधमें सबसे प्रमुख और प्रधान है स्त्री और पुरुषका संबंध, जिसे बर्नर्डशाने एक जगह 'अन्ध-जीवन-शक्ति' (ब्लाइंड लाभिफ-फोर्स) कहा है। जिस अंधशक्तिके साथ मनुष्यके परिमार्जित संस्कारोंका पदे-पदे विरोध है।

हिंदी 'समस्या नाटकों'में सबसे अधिक प्रतिभाशाली लक्ष्मीनारायण मिश्र हैं। उन्होंने 'जो अनुभव किया है', उसे 'नाटकके रूपमें' हमारे सामने

रख दिया है, यथार्थ, ज्यों-का-त्यों। अन्होंने जान-बूझकर मनोरंजनके लिये या धोखा देनेके लिये किसीको पापी, या पुण्यात्मा नहीं बनाया, बल्कि अपने चरित्रोंको जिदगीकी सबकपर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियोंके चक्रदार घेरेमें होकर रुकते हुआ, थमते हुआ, ठोकर खाते हुआ आगे बढ़ते गये हैं, और नाटककार बराबर अेक सच्चे जिज्ञासुकी तरह बड़ी सावधानीसे चलता गया है। प्रेमचंदजीके चरित्रोंकी तरह अुनके मूलमें ही क्रान्ति नहीं है। क्रान्ति है अुनके अन्तमें। यह सच है कि अुन्होंने भी क्रान्ति की है, सामाजिक या राजनैतिक नियमोंकी अवहेलना की है; किन्तु कब?— विरोधी अुपकरण जब जिदगीकी राह रोककर खड़े हो जाते हैं। यही स्वाभाविक है। मिश्रजीकी यह अर्मानदारी अुनके नाटकोंमें भारी आकर्षण ले आ देती है। अुन्होंने पुरानी भावुकताके प्रति विद्रोह किया है। अुनका कहना है कि “प्रतिभा यदि वास्तवमें कहीं है तो वह अुसी पुराने रास्तेमें धूलके भीतर घसीटी नहीं जा सकती। खुसकी अच्छा कानून है, वह जिधर नज़र डालती है, नियम बनते जाते हैं। कलाकार वह कम्पास है जो तूफ़ानमें ठीक खुत्तरकी ओर अिशारा—संकेत—करता है।” अिस दृष्टिसे अिनके नाटकोंमें ‘ठीक खुत्तरकी’ ओर संकेत करना ही आदर्श है, फिर भी अुन्होंने अपने नाटकोंको जो ‘समस्या नाटक’ कहा है खुसका कारण यह है कि वे पहलेसे ही समाधानको दृष्टिमें रखकर अपनी रचना नहीं करते। वे खुस बातकी ओर अुन्मुख हैं, जो अेक नयी दुनियाका निर्माण करेगी, ‘जिसका आधार संस्कार और सेवा होगा—रंगोंकी विषमता और घृणा नहीं।’ अिसीलिये वे बर्नर्डशाकी खुस प्रवृत्तिका अनुकरण करना पसंद नहीं करते जिसका काम खुपहास करना है, सुधार करना नहीं।

मिश्रके नाटकोंमें नाटकीय कारीगरी निर्दोष नहीं कही जा सकती। दृश्योंके विधानमें और समस्याओंकी बेमेल योजनामें त्रुटि खोजी जा सकती है, पर निस्संदेह अुनमें अपने प्रतिपाद्यके भीतर प्रवेश करनेकी पैनी दृष्टि वर्तमान है।

लेकिन हिंदीमें आज भी नाटकोंमें कवित्व पूरी मात्रामें है। तीन अेणीके नाटक अैसे लिखे गये हैं जो काव्यके तत्त्वोंसे परिपूर्ण हैं :—

(१) प्रथम हैं 'रूपक नाट्य'— 'जिनमें या तो मानवीय मनोरागों— जैसे:—कामना, विलास, सन्तोष, करुणा आदि—को मनुष्य रूपमें कल्पना करके नाटकीय रस-सृष्टि करनेका प्रयास होता है, या प्रकृतिके भिन्न-भिन्न सुपादानोंकी मानव रूपमें अवतारणा की जाती है। प्रसादजीकी 'कामना' प्रथम श्रेणीमें और सुमित्रानंदन पंतजीकी 'ज्योत्स्ना' दूसरी श्रेणीमें आती है। अिन रूपकोंके माध्यमसे नाटककार अपना अभिमत सुद्देश्य व्यक्त करता है।

(२) 'गीति नाट्य' पद्यात्मक बातचीतके रूपमें लिखे जाते हैं। यह भी कवित्वकी मात्रा लिखे होते हैं। कवित्वसे मतलब केवल पद्य-बद्धतासे नहीं बल्कि भावावेग, कल्पना और शंकारके वातावरणसे है। नाटकोंकी गद्यात्मक क्रियाका अिसमें प्राधान्य नहीं होता, यद्यपि वह नाटकीय गुण अिसमें रहना आवश्यक है, जो पात्रों और घटनाओंके घात-प्रतिघातसे गति सुत्पन्न करता है। हिंदीमें बहुत बड़ी प्रतिभावाला गीति नाट्यकार कोअी नहीं है।

(३) अिन्हींसे मिलते-जुलते अर्थात् भावावेग, कल्पना और शंकारका कवित्वमय वातावरण लिये हुये अेक और प्रकारके नाटक होते हैं, जो गद्यमें लिखे जाते हैं। अिन्हें 'भाव नाट्य' नाम दिया गया है। अैसे नाटकोंमें सबसे प्रख्यात है गोविन्द वल्लभ पन्तकी 'वरमाला'। श्री अुदशंकर भट्टने भी अनेक गीतिनाट्यों और भावनाट्योंकी रचना की है।

§१०३. अिधर 'अेकांकी नाटकों'का भी प्रचलन बढ़ रहा है। पुराने ज़मानेमें भी अेक अंकमें भी समाप्त होनेवाले नाटक लिखे गअे हैं। परन्तु अिधरके प्रयत्न नये हैं। अिनमें गद्यात्मकता, मनोविश्लेषणकी प्रवृत्ति और समस्याओंकी ओर संकेत ही प्रधान हो सुठा है। ये कहानीकी भाँति बौयक्तिक स्वाधीनता और गद्ययुगकी सुपज है। अिनमें बअे नाटकोंकी भाँति चरित्रके विकासका ज़्यादा अवकाश नहीं होता। कहानीकी भाँति अेकांकी नाटकके चरित्र भी लेखकके सुद्देश्यके साधन होकर आते हैं। स्थान, समय और वस्तुका संकलन अेकांकीके कौशलकी जान है। कहानीकी भाँति अेकांकी नाटक भी अेक घटना, अेक परिस्थिति और अेक सुद्देश्यसे बनता है। हिंदीमें डा. रामकुमार वर्माने सबसे अधिक अेकांकी नाटक लिखे हैं।

§१०४. नाटककारका अुद्देश्य समझना अुपन्यासकारके अुद्देश्यके समान सरल नहीं है। नाटक भिन्न-भिन्न स्वभाववाले पात्रोंके मुखसे बोलता है। प्रत्येक पात्रकी अुक्तिमें नाटककारका अपना मत व्यक्त नहीं होता, परन्तु दो बातोंको ध्यानमें रखनेसे नाटककारका अपना अुद्देश्य समझमें आ जाता है। प्रथम यह लक्ष्य करना चाहिये कि नाटककार किस पात्रकी ओर सबसे अधिक सहानुभूति अुत्पन्न कर रहा है और किस पात्रकी ओर घृणा या अुपेक्षाका भाव दिखा रहा है। सहानुभूतिवाले पात्रके मुखसे नाटककार प्रायः अपना मत प्रकट किया करता है।

आजकल तो नाटककार दीर्घ भूमिकाओं लिखकर अपना मत प्रकट करने लगे हैं। नाटककारकी गलतियोंसे भी अुसके पक्षपातका अनुमान होता है, क्योंकि कभी-कभी अुत्तम नाटककारोंको भी अपने सिद्धान्तोंके प्रति अतिरिक्त मोह होनेके कारण शिथिल और अनावश्यक दृश्योंका अवतरण करते देखा गया है। 'प्रसादजी' प्रायः नाटकोंको गतिमान बनानेके बदले अपने ऐतिहासिक मतों और दार्शनिक विद्वानोंको व्यक्त करनेके फेरमें पड़ जाते हैं। और अिस प्रकार गतिहीन दृश्योंकी योजना कर बैठते हैं।

परन्तु नाटककी परिसमाप्तिसे भी नाटककारका अुद्देश्य स्पष्ट होता है। 'शकुन्तला नाटक'के प्रथम अंकमें कालिदासने दुष्यन्त और शकुन्तलाके आकर्षणकी योजना यौवन-लीलाके भीतरसे की है। परिस्थितियाँ अिस अुच्छृंखल प्रेमाकर्षणको छिन्न-भिन्न कर देती हैं। अन्तिम अंकमें मलिन धूसरवसना, नियमाचरणसे शुष्कमुखी, शुद्धशीला शकुन्तलाका दर्शन होता है। यहाँ कविने मिलनका माध्यम बालकको बनाया है। अिस आदि और अन्तको देखकर सहृदयके हृदयपर यह प्रभाव पड़ता है कि "मोहमें जो अकृतार्थ हुआ है वह मंगलमें परिसमाप्त है। धर्ममें जो सौंदर्य है वही ध्रुव है और प्रेमका जो शान्त, सयंत तथा कल्याणमय रूप है वही श्रेष्ठ है; बंधनमें ही यथार्थ जोभा है; और अुच्छृंखलतामें सौंदर्यकी आशु विकृति। भारतवर्षके प्राचीन कविने प्रेमको ही प्रेमका लक्ष्य नहीं माना, मंगलको ही प्रेमका अन्तिम लक्ष्य धोषित किया है। अुनके मतमें नर-नारीका प्रेम तबतक सुंदर नहीं होता जबतक कि वह वन्ध्य (निष्फल, निस्संतान)

रहता है, कल्याणको नहीं अपनाता और संसारमें पुत्र, कन्या तथा अतिथि-प्रतिवेशियोंमें विचित्र झौभाग्यसे व्याप्त नहीं हो जाता ।” (रवीन्द्रनाथ)

§ १०५. और सही बात यह है कि अन्यान्य साहित्यांगोंकी भाँति नाटकका भी चरम लक्ष्य वही परम मंगलमय ऐक्यानुभूति है जिससे वह पशु-सामान्य प्रवृत्तियोंसे ऊपर खुठता है और प्राणिमात्रके सुख-दुःखको अपना समझ सकता है । नाटककी आलोचनाके नामपर आजकल बहुत भूल-जुलूल भ्रामक बातें फैलायी जा रही हैं । सुप्रसिद्ध नाटककार बर्नडशाने एक जगह लिखा है :—

“कोभी ऐसी बात नहीं कहता कि ‘मैं पूर्वकालीन सुखान्त और दुःखान्त नाटकोंसे खुसी प्रकार घृणा करता हूँ जिस प्रकार धर्मोपदेशसे या संगीतसे । किन्तु मैं पुलिस-केस या विवाह-विच्छेदके समाचारको या किसी भी प्रकारके नृत्य और सजावट आदिको पसंद करता हूँ, जो मुझपर और मेरी पत्नीपर अच्छा प्रभाव डालते हैं । बड़े लोग चाहे जो कहें मैं किसी प्रकारके बुद्धिमूलक कार्यसे आनंद नहीं खुठा पाता और न यही विश्वास करता हूँ कि कोभी दूसरा ही खुससे आनंद खुठा सकता होगा’ । —ऐसी बातें नहीं कही जातीं । फिर भी योरप और अमेरिकाके १० फी सदी प्रसिद्ध पत्रोंमें नाटकोंकी समालोचनाके नामपर अिन्हीं बातोंका विस्तृत और पालिश किया हुआ अर्थान्तर प्रकाशित होता है । अगर अिन समालोचनाओंका यह अर्थ नहीं तो उनका कुछ भी अर्थ नहीं है ।”

८. साहित्यिक समालोचना और निबंध

१०६. 'समालोचना' शब्दका व्यवहार आजकल बहुत अस्त-व्यस्त अर्थमें हो रहा है। अंग्रेजीके 'क्रिटिसिज़्म', 'रिव्यू', 'ओपिनियन' आदि शब्दोंके सिवा संस्कृतके 'टीका-व्याख्या' आदि सभी अर्थोंमें इसका व्यवहार होते देखा गया है। साधारणतः समालोचकका कर्तव्य यह समझा जाता है रहा कि वह कवि और काव्यके दोष-गुणोंकी परीक्षा करे, सुत्कर्ष-अपकर्षका निर्णय बतावे, और सुपादेयता या अनुपादेयताके संबंधमें परामर्श दे। सनातन कालसे समस्त देशोंमें काव्य-समालोचक निम्न लिखित बातोंमेंसे अेक, दो, या तीनोंका कार्य करते आये हैं—विश्लेषण, व्याख्या, और सुत्कर्ष-अपकर्ष-विधान। लेकिन बहुत हाल ही में समालोचकके इस सनातन-समर्थित कर्तव्यको सन्देह की दृष्टिसे देखा जाने लगा है।

सबसे पहला आक्रमण 'समालोचना' नामक विषयपर ही किया गया है। कवि और पाठकके बीच इस मध्यवर्ती बाधाकी सुपकारितापर ही सन्देह प्रकट किया गया है। विभिन्न देश और कालके इतिहाससे इस प्रकारके सैकड़ों प्रमाण अेकत्रित किये जा सके हैं कि अेक ही कवि या नाटककारको दो समालोचक अेकदम विरुद्ध रूपमें देखते हैं। फ्रांसके आलोचक बहुत दिनोंतक शेक्सपियरको असभ्य, जंगली और कला-शून्य समझते रहे और अिंगलैण्डवाले संसारका सर्वश्रेष्ठ कलाकार ! मिल्टनके 'पैराडाभिज लास्ट'को अेक पंडितने बहुत ही सुत्तम और दूसरेने अत्यन्त निरुष्ट कोटिका काव्य बताया था। हिंदीमें खुस दिनतक देव और बिहारीके काव्योत्कर्षके विषयमें परस्पर विरोधी मतोंका चक्कर-चक्कर चलता रहा। केवल कवियोंकी ही नहीं आलोचकोंकी भी समीक्षा करते समय परस्पर विरोधी मतोंकी बातें सुनायी देती हैं। श्री रामनाथ लाल 'सुमन'को जिस महीने श्री नगेंद्रने 'अिमेजिनेटिव' या कल्पनाविवादी 'स्कूल'का बताया, खुसी महीने श्री बनमालीने 'अिम्प्रेसानिष्ट' या प्रभाववादी सम्प्रदायका मान लिया ! इस प्रकार प्रत्येक देश और प्रत्येक कालमें समालोचकके विश्लेषण, व्याख्या और

शुत्कर्षोपकर्ष विधानोंमें गहरा मतभेद देखा जाता है। फिर भी इसके बिना काम भी नहीं चलता।

§१०७. समस्त हिंदी साहित्यको पढ़ना संभव नहीं है। खुसपर अपना मत भी स्थिर करना सबके वृत्तका नहीं है। इस अज्ञानकी अपेक्षा पं. रामचंद्र शुक्लका विशेष दृष्टिसे देखा हुआ साहित्यिक निष्कर्ष पढ़ना कहीं अधिक अच्छा है। इस प्रकार पं. रामचंद्र शुक्लका मत अनेक-दो स्थानोंपर भ्रामक होते हुए भी, सब मिलाकर कामकी चीज सिद्ध हो सकता है; पर खतरा यह है कि पं. रामचंद्रको 'क', 'ख', 'ग' नामक समालोचकोंसे विशेष कैसे मान लें? कौन-सा बौट है जिससे हम शुक्लजीके भारीपन और दूसरोंके हल्केपनका निर्णय कर लें? स्पष्ट ही हमें फिर एक दूसरे आदमीकी राय लेनी पड़ेगी और इस प्रकार मूल पुस्तक और अपने बीच हम एक और बाधा खड़ी कर लेंगे। सच पूछा जाय तो मूल पुस्तक और पाठकोंके बीच इस प्रकारकी बाधाओंकी परंपरा बड़ी खतरनाक साबित हुई है। इस वैज्ञानिक युगमें इसीलिये अनि शुत्कर्षोपकर्ष-विधायिनी समालोचनाओंके प्रति अनेक तरहके विरागका वातावरण तैयार हुआ है! इसलिये कुछ पंडितोंने समालोचनाको बिल्कुल नये ढंगका शास्त्र बनाना चाहा है; क्योंकि उसके बिना जब काम चलही नहीं सकता और पुराना ढंग जब खतरनाक साबित हो ही चुका है, तो क्यों न इस शास्त्रका आमूल संस्कार कर लिया जाय?

§१०८. अनि नये पंडितोंका मत है कि समालोचनामें शुत्कर्ष या अपकर्षका निर्णय नहीं होना चाहिये। वनस्पति-शास्त्री बबूल और गुलाबके सौन्दर्य या गुणोंकी मात्राका विचार नहीं करता, वह केवल अिनकी जातिका भेद बताता है। इसी प्रकार आलोचकको भी आलोच्य ग्रंथकारकी जातिका निर्णय करना चाहिये, गुण और दोषकी मात्राका नहीं।

प्राचीन निर्णयात्मिका समालोचना (जुडिशियल) के विरोधमें इसका नाम दिया गया है 'अम्यूहमूला समालोचना' या (अिडकिडव किटिसिड्रम)। जिसमें कवियोंके प्रकार—(काथिड)में भेद किया जाता है, मात्रा (डिथ्री) नहीं ये।

समालोचक काव्यका विश्लेषण करते हैं, गुण-दोषका विवेचन नहीं। लेकिन वनस्पति-शास्त्रके बबूल और गुलाब का जाति-भेद बतानेके बाद भी अेक जैसे शास्त्रकी आवश्यकता रह जाती है जो बतावे कि अिन दोनोंमेंसे किसका नियोग मानव जातिके किस कल्याणमें किया जा सकता है। अुसी प्रकार अिस समालोचकके बाद भी अिस बातकी जरूरत रह जाती है कि, समालोचक नहीं तो कोअी और ही बतावे कि, किस कविसे समाजको क्या लाभ या हानि है— अर्थात् समाजके लिये कौन कितना अुत्कृष्ट या अपकृष्ट है ? अिस प्रकार समस्या जहाँकी तहाँ रह जाती है। असलमें सवाल 'जुडिशियल' या 'अिन्डिक्टेड' आलोचनाका नहीं है, सवाल है अेक सामान्य निर्णायक साधनका। भारतवर्षके पंडितोंने अनेक रगड़-झगड़के बाद अेक सामान्य मान (या 'कामन स्टैण्डर्ड') बनानेकी चेष्टा की थी; पर हमने देखा है कि जमानेके परिवर्तनके साथ वह अब आदर्श व्यवस्था नहीं मानी जा सकती। फिर भी अुनके अुझाये हुअे मार्गसे नये 'स्टैण्डर्ड'का अुद्गावन किया जा सकता है।

§१०९. मनुष्यका मन हजारों अनुकूल और प्रतिकूल भाराओंके संघर्षसे रूप ग्रहण करता है, अुसे अगर प्रमाण मान लें तो मूल्य-निर्धारणका कोअी अेक सामान्य मानदण्ड बन ही नहीं सकता। ग्राहक और विक्रेताको अपने-अपने मनबे अनुसार 'सेर' बनाने दिया जाय तो बाजार बंद हो जायेंगे। कविका कार-बार अिसी मानसिक 'सेर'से चलता है, अन्ततः अबतक चलता रहा है। अिधर समा-लोचक लोग अपने-अपने मनके गढ़े 'सेर' लेकर पहुँचे हैं। जब हम समालोचककी रुचिकी बात कहते हैं तो अुसके अिसी मन-गढ़न्त 'सेर'की बात करते हैं। 'क' नामक समालोचक जिसको तीन सेर कहता है, 'ख' अुसे पौन सेर माननेको भी तैयार नहीं। 'देव पुरस्कार'के अेक निर्णायकने अेक पुस्तकपर ८५ नंबर दिये थे, दूसरेने २० और तीसरेने शून्य !! अब, यह तय है कि अपनी-अपनी रुचि और अपने-अपने संस्कार लेकर वस्तुका आधार्थ-निर्णय नहीं हो सकता, कौअी अेक सामान्य मानदण्ड होना चाहिये।

प्रभाववादी समालोचकोंने अिस सामान्य मानदण्डके रास्तेमें विघ्न खड़ा किया है। पं. रामचंद्र शुक्लने अिनकी समालोचनाके संबंधमें अपने

इतिहासमें कहा है कि—“प्रभावाभिव्यंजक समालोचना कोभी ठीक-ठीकानेकी वस्तु ही नहीं। न ज्ञानके क्षेत्रमें उसका कोभी मूल्य है न भावके क्षेत्रमें। इसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कविकी आलोचना कोभी असलिये पढ़ने बैठता है कि उस कविके लक्ष्यको, उसके भावको ठीक-ठीक हृदयंगम करनेमें सहारा मिले। असलिये नहीं कि सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थ-गर्भित पद्यकी आलोचना इसी रूपमें मिले कि ‘अंक बार इस कविताके प्रवाहमें पड़कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कविको भी विवशताके साथ बहना पड़ा है; वह अेकाधिक बार मयूरकी भाँति अपने सौंदर्यपर आप ही नाच उठा है’, तो उसे लेकर कोभी क्या करेगा ?

आचार्य शुक्लका यह वक्तव्य जहाँ विशुद्ध बुद्धिमूलक चिन्तनको प्रधान मानकर समालोचनाके प्रभाववादी रूपकी अुचित समीक्षा करता है, वहाँ यह भुला देता है कि काव्यकी समीक्षा जितनी बुद्धिमूलक भी क्यों न हो, है वह भावावेगको समझनेका प्रयत्न। सहृदयके हृदयमें वासना रूपसे स्थित भाव ही तो काव्यके अलौकिक चमत्कारका कारण है, रस सहृदयके स्वाकारसे अभिज्ञ है [दे० §२९]। फिर वह निस्संग कैसे हो सकता है ? जबतक सहृदयका व्यक्तित्व कविके साथ अेकाकार नहीं हो जाता तबतक रसका अनुभव नहीं हो सकता। समीक्षक जबतक अपना अहंकार लेकर बैठा रहेगा तबतक रस नहीं ग सकेगा। स्वयं शुक्लजीने कहा है कि ‘काव्यका जो चरम लक्ष्य सर्वभूतको आत्मभूत कराके अनुभव कराना है, उसके साधनमें भी अहंकारका त्याग आवश्यक है।’

§११०. लेकिन किसी भी बातके निर्णयका सामान्य मानदण्ड मनुष्यके गस वर्तमान है। वह मानदण्ड है बुद्धि। किसी ‘वस्तु’, ‘धर्म’ या ‘क्रिया’ के वास्तविक रहस्यका पता लगानेके लिये उसे अपने अनुराग-विराग या अच्छा-दूषके साथ सान नहीं देना चाहिये, बल्कि देखना चाहिये कि वह वस्तु-धर्म या क्रिया, देखनेवालेके विना भी, अपने आपमें क्या है। गीतामें इसी बातको नाना भाषसे बताया गया है। समालोचनाका जो ठरी प्रभाववादियोंने चला दिया है उसमें द्वंद्वों द्वारा परिचालित होनेको दोषका कारण तो माना ही नहीं जाता, अुल्टे अभी-कभी उसके लिये गर्व किया जाता है।

§१११. सम्मतियोंकी भिस बहुमुखी विरोधिताका कारण यह है कि आलोच्य-वस्तुको आलोचक अपने मानासिक संस्कारोंके भीतरसे देखता है। कभी-कभी वह अपनी ग़लती खुद ही महसूस करता है और इसलिये अपनी सम्मतिके समर्थनमें वेदान्तसे लेकर काम-शास्त्रतकका हवाला पेश किया करता है। भिस प्रकार शुरूमें ही अपनी रुचि-अरुचिके जालसे आलोच्यको आच्छादित करनेवाली समालोचनाका भी नाम कभी-कभी 'निर्णयात्मिका' ('जुडिशियल') बताया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह समालोचना 'निर्णयात्मिका' नहीं होगी, क्योंकि निर्णायक होनेके लिये अिच्छा-द्वेषसे परे होना बहुत ज़रूरी है। परन्तु कहा जाता है कि समालोचनाकी दुनिया निराली होती है। अन्य वैज्ञानिक ठोस-ठोस वस्तुओंकी नाप-जोख करते रहते हैं, पर समालोचक अनिन्द्रिय-प्राप्त अलौकिक रस-वस्तुकी जाँच करता है। इसलिये पहले उसे अपने मनोभावोंको ही प्रधानता देनी चाहिये। अर्थात् छूटते ही उसे जो काव्यादि 'अपील' कर जायँ, उसीको उसे बुद्धि-परक विवेचनाका रूप देना चाहिये। परन्तु ऐसा करके आलोचक वस्तुतः कवि बनता है। अन्तर यही होता है कि कवि फूल-पत्ताको देखकर भावोन्मत्त होता है, और आलोचक उसकी कविताको, दोनों कब क्या कह जायँ, कुछ ठीक नहीं।

ऐसा स्वीकार करनेमें किसीको कोअी आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि कविके चित्तके अन्तस्तलमें या उसके मनके अवचेतन स्तरमें ऐसी बहुत-सी चीज़ें होती हैं जो अनजानमें उसकी कवितामें आ जाती हैं, और आलोचकका दावा बिलकुल ठीक है कि वह उन अनजान प्रवृत्तियोंसे पाठकका परिचय कराता है। परन्तु जब वह कहता है कि उससे उसे किसी अनिर्वचनीय हेतु या कलाका संधान मिलता है, तो मुझे ऐसा लगता है कि वह मानव-बुद्धिपर जितना विश्वास करना चाहिये उतना नहीं करता। कोअी चीज़ हमें सौ-दो-सौ कारणोंसे प्रभावित करती है। आज मनुष्यकी बुद्धि शायद उनमेंसे दस-पाँचका ही ज्ञान रखती है। बाक़ी अज्ञात हैं। किन्तु वैज्ञानिकका यह धर्म है कि उसे जितना मालूम है उतना कहकर बाक़ीके लिये भावी पीढ़ियोंमें कुतूहल और उत्सुकताका भाव जगा जाय। यह नहीं कि कह दे कि बाक़ी किसी अज्ञात या अज्ञेय अस्तुसे

आ रहे हैं। यही कारण है कि आजका समालोचक पुराने समालोचकोंके रास्तेसे हटता जा रहा है।

पुराना समालोचक आलोच्य काव्य और कविताको अपने-आपमें संपूर्ण मान लेता था, नया समालोचक ऐसा मानना नहीं चाहता; क्योंकि ऐसा मान लेनेसे काव्यादि साहित्यांग मानवताके साध्य हो जाते हैं, मानवताकी अप्रगतिमें साधनका कार्य करते हुए नहीं माने जाते। और अगर साध्यरूपसे ही साहित्यको पढ़ना हो तो प्राचीन हिंदीके अधिकांश साहित्यको याद रखनेकी कोभी जरूरत नहीं। आधुनिक समालोचककी दृष्टि अपने सामनेकी समस्याओंपर रहती है। साहित्य उसके समझनेमें और सुलझानेमें उसके लिये सहायकका काम करता है। कवि उसके लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य होते हैं।

लेकिन समालोचना केवल साहित्यिक ग्रंथतक ही सीमित नहीं रहती। संसारके विविध पदार्थोंको मनुष्यकी बुद्धिसे समझनेका प्रयत्न करती है। यह प्रयत्न जब केवल सूक्ष्म तर्क और बौद्धिक विलाससे आगे बढ़कर मनुष्यकी भावनाओं और अनुभूतियोंको आश्रय करके प्रकट होता है तो उसमें साहित्यिकता आ जाती है। साहित्यिक कृतियोंकी आलोचनामें भी हमने भिन्न प्रकारका भाव-मिश्रण लक्ष्य किया है। प्रायः कविताको देखकर भाव-मंदिर भाषामें प्रकट किये गये अद्भुत देखनेको मिलते रहते हैं। वस्तुतः अनिको 'साहित्यिक समालोचना' न कहकर समालोचनाके रूपमें 'व्यक्तिगत निबंध' कहना उचित है।

§ ११२. 'निबंध' क्या है? प्राचीन संस्कृत साहित्यमें 'निबंध' नामका एक अलग साहित्यांग है। भिन्न निबंधोंमें धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तोंकी विवेचना है। विवेचनाका ढंग यह है कि पहले पूर्वपक्षमें ऐसे बहुत-से प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं जो लेखकके अभीष्ट सिद्धान्तके प्रतिकूल पड़ते हैं। इस पूर्वपक्षवाली शंकाओंका एक-एक करके उत्तरपक्षमें जवाब दिया जाता है। सभी शंकाओंका समाधान हो जानेके बाद उत्तरपक्षके सिद्धान्तकी पुष्टिमें कुछ और प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं। चूंकि भिन्न ग्रंथोंमें प्रमाणोंका निबंधन होता है इसलिये भिन्ने 'निबंध' कहते हैं।

अस शंका-समाधान-मूलक पक्ष-स्थापनमें लेखककी रुचि-अरुचिका प्रश्न नहीं उठता। वह प्रमाणों और उनके पक्ष या विपक्षमें उठ सकनेवाले तर्कोंसे बंधा होता है। असलिये अिन निबंधोंमें बौद्धिक निस्संगता ही प्रधान रूपसे वर्तमान रहती है।

§११३. निस्संग बुद्धिसे विचार करनेका आदर्श रूप यह है कि यह दिखाया जाय कि कोअी वस्तु द्रष्टा बिना भी कैसी है। प्रत्येक वस्तु द्रष्टाकी रुचि-अरुचिसे सनकर थोड़ा भिन्न हो जाती है। अेक सुंदर फूल असलिये सुंदर लगता है कि वह द्रष्टाको सामंजस्यकी ओर अुनमुख करता है। वैज्ञानिक विवेचनासे यह सिद्ध हो सकता है कि फूल और कांयला दोनोंही वस्तुतः अेक ही वस्तु हैं, क्योंकि दोनों ही कुछ विद्युदस्युओंके, जिन्हें 'अिलेक्ट्रन' और 'प्रोटन' कहते हैं, समवाय हैं। यह निस्संग बुद्धिका विषय है और असका रास्ता विश्लेषण और सामान्यीकरणका है। किन्तु जब कोअी द्रष्टा वस्तुको अपनी रुचि-अरुचिके भीतरसे देखता है तो वस्तुतः वह संश्लिष्ट और विशिष्ट वस्तुको देखता है। वह यह नहीं देखता कि फूल किन-किन अुपादानोंसे बना है, बल्कि यह देखता है कि फूल बन-बना लेनेके बाद कैसा है? और संसारकी और सौ-गचास वस्तुओंसे क्या वैशिष्ट्य रखता है?

निस्संग बुद्धि वैज्ञानिक विवेचनका सहारा है और आसक्त चित्त सौंदर्य-मर्मज्ञता। संसारके विविध पदार्थोंको दोनों दृष्टिसे देखा जाता है। साहित्यमें दूसरा मार्ग स्वीकार किया गया है, असलिये अुन्हीं निबंधोंका अस प्रसंगमें विवेचन दागा जो संश्लिष्ट और विशिष्ट रूपमें वस्तुओंको देखते हैं।

§११४ हमने पहले ही लक्ष्य कर लिया है कि साहित्यिक समालोचनाके सिबा और भी बहुत-से अैसे निबंध हैं जो साहित्यके अन्दर माने जा सकते हैं। निबंधका प्रचलन भी कोअी नया नहीं है। पुराने जमानेसे ही निबंधोंका प्रचार है। हमने यह भी देखा है कि किसी प्रतिपाद्य सिद्धान्तके विरुद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे, अुनको अेक-अेक करके अुठाना और अुनकी समीक्षा करते हुआे अपने सिद्धान्तपर पहुँचना, यही पुराने निबंधोंका कार्य था। परन्तु नये युगमें

जिन नवीन ढंगके निबंधोंका प्रचलन हुआ है वे 'तर्कमूलक'की अपेक्षा 'व्यक्तिगत' अधिक है। ये व्यक्तिकी स्वाधीन चिन्ताकी उपज हैं। जो निबंध किसी तत्त्ववादके विचारके लिये लिखे जाते हैं उनमें थोड़ा-बहुत प्राचीन ढंग अब भी पाया जाता है। साधारणतः जिन निबंधोंमें निस्संग विचारका प्राधान्य होता है वे साहित्यिक आलोचनाके प्रसंगमें आलोचित नहीं होते।

§११५. निबंधोंकी नाना कोटियाँ हैं। सुनको साधारणतः पाँच श्रेणियोंमें बाँट लिया जा सकता है— (१) वार्तालाप-मूलक (२) व्याख्यान-मूलक, (३) अनियंत्रित गप्प-मूलक, (४) स्वगत-चिन्तन-मूलक (५) कलह-मूलक।

(१) 'वार्तालाप-मूलक' निबंधका लेखक मन-ही-मन ओक ऐसे वातावरणकी कल्पना करता है, जिसमें कुछ सच्चे जिज्ञासु लोग किसी तत्त्वका निर्णय करने बैठे हों और अपने-अपने विचार सत्य-निर्णयकी आशासे सहजभावसे प्रकट करते जाते हों (२) परन्तु 'व्याख्यान-मूलक' निबंध-लेखक व्याख्यान देता रहता है। वह अपनी युक्तियों और तर्कोंको बिना इस बातकी परवा किये उपस्थित करता जाता है कि कोसी सुसे टोक देगा। (३) 'अनियंत्रित गप्प' मारते समय गप्प करनेवाला हल्के मनसे बातें करता है, वह अपने विषयके सुन सरस और हास्योद्वेचक पहलुओंपर बराबर घूम-फिरकर आता रहता है, जो सुसके श्रोताके चित्तको प्रफुल्ल कर देंगे। (४) 'स्वगत-चिन्तन-मूलक' लेखक अपने आपसे ही बात करता रहता है। सुसके मनमें जो युक्तियाँ उठती रहती हैं, सुन्हें तन्मय होकर वह विचारता जाता है। पर-पक्षकी आशंका सुसे नहीं रहती। (५) परन्तु 'कलह-मूलक' निबंधका लेखक अपने सामने मानो ओक प्रतिपक्षीको रखकर सुससे सुतेजनपूर्ण बहस करता रहता है, प्रतिपक्षीकी युक्तियोंका निरास करना सुसका सुतना लक्ष्य नहीं होता जितना अपने मतको सुतेजित होकर व्यक्त करना। इस अन्तिम श्रेणीके निबंधोंमें कभी-कभी अच्छी साहित्यिक रचना मिल जाती है, पर साधारणतः ये 'साहित्य' की श्रेणीके बाहर जा पड़ते हैं।

निबंधोंके व्यक्तिगत होनेका अर्थ यह नहीं है कि खुनमें विचार-शृंखला न हो। ऐसा होनेसे तो वे 'प्रलाप' कहे जायेंगे। संसारमें हम जो कुछ देखते हैं वह द्रष्टाकी विभिन्नताके कारण नाना भावसे प्रकट होता है। अपनी रुचि और संस्कारके कारण किसी द्रष्टाका ध्यान वस्तुके अंक पदलूपर जाता है तो दूसरे द्रष्टाका दूसरे पदलूपर। फिर वस्तुओंके जो पारस्परिक संबंध हैं वे अितने तरहके हैं कि अिन संबंधोंमेंसे सब सबकी दृष्टिमें नहीं पड़ते। अिसीलिये प्रत्येक व्यक्ति यदि अीमानदारीसे अपने विचारोंको व्यक्त कर ले तो हमें नवीनका परिचय-मूलक आनंद मिल सकता है और साथ ही खुस अुद्देश्यकी सिद्धि भी हो सकती है, जो साहित्यका चरम प्रतिपाद्य है।

द्रष्टाके भेदसे दृश्यका अभिनव रूप हमें दूसरेके हृदयमें प्रवेश करनेकी क्षमता देता है और हम केवल अपने व्यक्तिगत रुचि-अरुचिके संकीर्ण दायरेसे निकलकर दूसरोंकी अनुभूतियोंके प्रति संवेदनशील होते हैं। वस्तुतः जो निबंध अिस अुद्देश्यकी ओर अुन्मुख करे वही साहित्यिक निबंध कहे जानेका अधिकारी है। जो लेख हमारे हृदयकी अनुभूतियोंको व्यापक, और संवेदनाओंको तीक्ष्ण नहीं बनाता, वह अपने अुद्देश्यसे च्युत हो जाता है।

§ ११६. अिस व्यक्तिगत अनुभूतिके कारण ही साहित्यिक निबंध-लेखक निःसंग तत्त्वचिन्तकसे भिन्न हो जाता है। "तत्त्वचिन्तक या वैज्ञानिक-से निबंध-लेखककी भिन्नता अिस बातमें भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है अुधर संपूर्ण मानसिक सत्ताके साथ—अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिये हुये। जो करुण प्रकृतिके हैं अुनका मन किसी बातको लेकर, अर्थ-संबंध-सूत्र पकड़े हुअे, करुणस्थलोंकी ओर झुकता और गंभीर वेदनाका अनुभव करता चलता है; जो विनोदशील हैं अुनकी दृष्टि अुसी बातको लेकर अुसके अैसे पक्षोंकी ओर दौड़ती है, जिन्हें सामने पाकर कोअी हैंसे बिना नहीं रह सकता। पर सब अवस्थाओंमें कोअी अंक बात अवश्य चाहिये। अिस अर्थगत विशेषताके आधारपर ही भाषा और अभिव्यंजना-प्रणालीकी विशेषता—शैलीकी-विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ-संबंधोंका वैचित्र्य नहीं, जहाँ

गतिशील अर्थकी परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थानपर खड़ी-खड़ी तरह-तरहकी मुद्रा और अच्छल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी ।” —(रामचंद्र शुक्ल) ।

§११७. चूँकि व्यक्तिगत रुचि और संस्कार अनन्त प्रकारके हैं और भिन्न वस्तुके अर्थ-संबंध भी, जो भिन्न रुचियों और संस्कारोंको प्रभावित करते हैं, अनन्त प्रकारके हैं, इसलिये व्यक्तिगत अनुभूति-मूलक निबंधोंकी केवल मोटी-मोटी श्रेणियाँ ही बतायी जा सकती हैं । इस क्षेत्रमें अनुकरण नहीं चल सकता, क्योंकि कोभी भी दो व्यक्ति हू-ब-हू एक ही रुचि और एक ही संस्कारके नहीं होते । यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओंमें ऐसे-ऐसे निबंध-लेखक हैं जिनकी समानता दूसरी भाषाओंमें खोजी नहीं जा सकती । ये आधुनिक युगके अत्यन्त सजीव साहित्यांग हैं । उनमें नित्य नवीन तत्त्वोंका समावेश और परिहार होता जा रहा है । निबंध-लेखक भी वस्तुतः एक समालोचक ही है । उसकी समालोचना पुस्तकोंकी नहीं होती, बल्कि उन वस्तुओंकी होती है जो पुस्तकोंका विषय है ।

§११८. संक्षेपमें हम इस प्रकार कह सकते हैं कि वस्तुको चाहे वह साहित्यिक ग्रंथ हो या अन्य पदार्थ— देखनेको दो रास्ते हैं :— ‘निवैयक्तिक’ या अनासक्त रूपमें और ‘वैयक्तिक’ या आसक्त रूपमें । दूसरा रास्ता अनुभव करनेका है, पर उसे प्रथमसे विच्छिन्न कर देनेपर दूसरोंतक उसे नहीं पहुँचाया जा सकता । विश्लेषण और सामान्यीकरणका रास्ता वैज्ञानिक रास्ता है । तत्त्व-निर्णयके लिये हमें इस रास्तेको अपनाना ही पड़ेगा । परन्तु साहित्य केवल तत्त्व-निर्णयसे ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह कुछ नया निर्माण भी करना चाहता है । कोभी भी व्यक्ति केवल भावावेगोंका गट्टर नहीं होता, वह वस्तुको देखते समय यथाशक्य निस्संग बुद्धिसे उसका याथार्थ्य भी निर्णय करता है । इसलिये वैयक्तिक या आसक्तभावसे देखना वैज्ञानिकके देखनेकी क्रियाका विरोधी नहीं है, बल्कि उसीका भावावेगोंसे सना हुआ कार्य है ।

§११९. इस प्रकार विश्लेषणके द्वारा समालोचक आलोच्य वस्तुके पादोंको समझ सकता है, पर विश्लेषण चाहे जितना भी उत्तम हो उससे

वस्तुका सभप्र सत्य नहीं प्रकट होता । हमें साहित्यकी सुपादेयताकी परीक्षाके लिये अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तपर दृढ़ रहना चाहिये । जो साहित्य हमारी कथुद्र संकीर्णताओंसे हमें ऊपर झुठा ले जाय और सामान्य मनुष्यताके साथ अेक कराके अनुभव करावे वही सुपादेय है । उसके भाव पक्षके लिये किसी देश-विशेष या कालविशेष की नैतिक आचार-परंपराका मुँह जोहना आवश्यक नहीं है । हमें दृढ़तासे केवल अेक बातपर अटल रहना चाहिये, और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या सुपन्यास-साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है वह हमें हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियोंसे ऊपर झुठाकर समस्त जगत्के दुःख-सुखको समझनेकी सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं—हमें 'अेक'की अनुभूतिमें सहायता पहुँचा रहा है या नहीं । जो भी साहित्य अिसके बाहर पड़े, अर्थात् हमारी पशु-सामान्य वृत्तियोंको बड़ी करके दिखावे, हमें स्वार्थी और खंड-विच्छिन्न बनावे, अुसे हम साहित्य नहीं कह सकते, चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या संप्रदायका समर्थन अुसे प्राप्त हो । अिस विषयमें हमें साहित्यिक सिद्धान्तपर दृढ़ रहना चाहिये ।

§ १२०. साहित्यिक सिद्धान्तोंकी दृढ़ता क्या है ? प्राचीन पंडितोंकी पोथियोंमें जब किसी नई काव्य-परिभाषाकी स्थापना करनी होती है तो अुसके पूर्व और अुत्तर पक्षकी कल्पना करके बहस की जाती है । पूर्वपक्षमें यह प्रश्न अुठाया जाता है कि अगर अिस परिभाषाको मान लेंगे तो पुराने कवियोंकी लिखी हुई बहुत-सी कविताओं अिसके बाहर पड़ जायेंगी और अुन्हें काव्य नहीं कहा जा सकेगा । अुदाहरणार्थ :—

यदि काव्यका लक्षण यह हो कि 'रसारमक वाक्य ही काव्य हैं' तो अैसी बहुत-सी कविताओं — जैसे चित्रकाव्य, अलंकार-बहुल पद्य आदि— अिस परिभाषाके बाहर पड़ जायेंगी; फिर अिनकी कविता नहीं कहा जा सकेगा । अिसके अुत्तरमें कहवाया जाता है, 'तुमने तो हमारा अभीष्ट ही कह दिया, यही तो हम चाहते थे !' शास्त्रकी भाषामें अिसीको 'अिष्टापत्ति' कहते हैं । फिर प्रश्न होता है कि 'तुम अैसा कैसे कह सकते हो ? तुम्हारी यह अिष्टापत्ति असंगत है, क्योंकि अैसा करनेसे शिष्ट-संप्रदायका विरोध होगा ।' प्रायः हा

अस प्रश्नके साथ समझौता करनेके लिये उन नीरस बातोंको भी निचली श्रेणीकी कविता मान लिया जाता है ।

परन्तु आजके ज़मानेमें हमें अपने सिद्धान्तपर दृढ़ताके साथ जमे रहनेकी जरूरत है । आजकल प्राचीन कवि-संप्रदाय (शिष्ट-संप्रदाय) के विरोधका तो डर नहीं रह गया है, पर छापेकी मशीनने जो अत्याधिक साहित्यिक उत्पादन करना शुरू किया है उसके फलस्वरूप नित्य नये-नये 'शिष्ट-संप्रदाय' पैदा होते जाते हैं और होते रहेंगे । डर अिन्हींका है । हमें दृढ़ताके साथ मानना चाहिये कि भाषा और शैली आदिमें कितने भी परिवर्तन क्यों न होते रहें, जो साहित्य हमें ऐक्यत्वकी अनुभूतिकी ओर अुन्मुख करेगा, हमें पशु-सामान्य मनोवृत्तियोंसे दूरपर अुठाकर प्रेम और मंगलमय मनुष्य-धर्ममें प्रतिष्ठित करेगा वही वस्तुतः साहित्य कहलानेका अधिकारी होगा ।
